'मानव-धर्म-प्रचारक'

PROPHETS of HUMANISM

[राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, अशोक, ईसा, मुहम्मद,
कबीर, नानक, दयानन्द, रामकृष्ण,
विवेकानन्द, रामतीर्थ, गाँधी]



लेखक
आचार्य जगतकुमार शास्त्री
सम्पादक
'मानव'



प्रकाशक
साहित्य-मण्डल,
२३, दरयागञ्ज, दिल्ली।

मूल्य अजिल्द ३॥)   सजिल्द ४) रु०

प्रकाशक
साहित्य-मण्डल,
२३, दरयागञ्ज,
दिल्ली

प्रथम बार

१९४४

मुद्रक
रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस,
२३, दरयागञ्ज,
देहली

साहित्य मण्डल, दीवानहाल, देहली

समर्पण

मानवता की रक्षा और गौरव-वृद्धि के
लिये विद्यार्थी-वृन्द एवं नवयुवक
बन्धुओं की सेवा में
सादर समर्पित

—लेखक

क्रम-सूची



प्राक्कथन

'मानव धर्म'-प्रचारक संसार में केवल वही नहीं हुए, जिनके संक्षिप्त जीवन-वृत्त का उल्लेख इस संग्रह में किया गया है। उन्हें तो विभिन्न विचार श्रेणियों के प्रतिनिधि अथवा उपलक्षण मात्र ही समझना चाहिए। 'मानव धर्म' प्रचारकों की परम्परा दिव्य, अखण्ड और सनातन है। अनादि-काल से प्रत्येक देश और काल में 'सर्वोदय' के लिये 'मानव धर्म'-प्रचारकों का आविर्भाव होता रहा है और यह क्रम दैव-लीलानुसार 'यावत् चन्द्रदिवाकरौ' जारी रहेगा। मानव जाति के इतिहास में ऐसे अनेक दैदीप्यमान् 'मानव धर्म' प्रचारक विद्यमान हैं, जिनका उल्लेख विस्तार भय से इस संग्रह में नहीं किया गया। कुछ का नाम निर्देश मात्र करके इतिहास मौन हो जाता है। उनकी जीवन लीला का बोध प्राप्त करने के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। आज तक संसार में हो चुके सभी 'मानव धर्म'-प्रचारकों का नाम निर्देश इतिहास अवश्य ही करता हो, सो बात भी नहीं है। सच तो यह है कि हमें मानव-जाति-रूपी विशाल भवन के बाह्य भाग ही कुछ अंश में दृष्टिगोचर होते हैं। उसके अन्तर्वर्ती सुदृढ़ एवं विशाल स्तम्भों और बुनियादों में छिपी हुई महत्वपूर्ण चट्टानों तथा उसका निर्माण करनेवाले महान् शिल्पियों का तो हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं। हाँ, उनके ऐतिहासिक अस्तित्व से इन्कार करना बुद्धिमानों के लिए शक्य नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीता और पवित्र कुरान शरीफ आदि सभी सद्ग्रन्थ इस विषय में सर्वथा एक मत हैं कि जब जब धर्म की हानि और पाप का उदय होता है, तब-तब उत्तम मनुष्यों की रक्षा, दुष्टों के विनाश और धर्म के पुनरुत्थान के लिए 'मानव धर्म'-प्रचारकों का आविर्भाव हुआ करता है। सभी मानव धर्म प्रचारक समान रूप से सनातन दैव-द्वारा नियुक्त, दैवी शक्तियों से

ओत-प्रोत और अपने पवित्र चरित्र-द्वारा सर्व-सुखद धार्मिक मर्यादा को, उसके विशुद्ध परिमार्जित और व्यावहारिक रूप में प्रकट करनेवाले होते हैं। वे धर्म के नाम पर प्रचलित मिथ्या धारणाओं, कुप्रथाओं, घातक रूढ़ियों और उनके पोषक-वर्ग से डटकर युद्ध करते हैं तथा व्यक्तिगत सुविधाओं, प्रलोभनों और ऐशो-आराम पर लात मारकर आगे बढ़ते हैं, बढ़ते ही जाते हैं। अन्ततोगत्वा उनके विरोधी वर्ग को भी उनके चरणों में नतमस्तक होना ही पड़ता है। धर्म-विजय-लाभ करते हुए मानव धर्म-प्रचारकों का आकर्षण और प्रभाव भी आश्चर्यजनक रूप में बढ़ जाता है। सहस्रों नर-नारी उन्हें अपना हृदयेश्वर कहने और उनके आदेशानुसार जीवन व्यतीत करने में गौरव अनुभव करने लगते हैं। कोई उन्हें गुरु, प्राज्ञ और पूज्य कहता है, कोई दूत, रसूल और पैग़म्बर कहकर अपने हृदय की पवित्रता प्रकट करता है, और कोई श्रद्धातिरेक के कारण उन्हें अवतार अथवा साक्षात् 'सच्चिदानन्द परमेश्वर' समझता तथा अलौकिक एवं अलंकारिक रूप में उनकी जीवन-लीला का वर्णन् करता है।

अधिकांश मानव-धर्म-प्रचारक जिस देश, काल और जाति में आविर्भूत होते हैं, उसी की भाषा और वेश-भूषा का व्यवहार करते और सामान्य जनों के समान ही खाते पीते और पुत्र, कलत्र-आदि के साथ रहकर व्यावहारिक रूप में उत्तम जीवन-यापन का आदर्श उपस्थित करते हैं। मानव धर्म प्रचारकों को अलौकिक रूप में नहीं, मनुष्य और केवल मनुष्य के रूप में देखने से ही मानव-जाति का हित-साधन हो सकता है।

इस पुस्तक में संगृहीत चरित्रों का संकलन पृथक् लघु पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित करने के विचार से किया गया था। कागज के अभाव और मुद्रण - सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण

पृथप् पृथक् लघु पुस्तिकाओं के प्रकाशन का विचार भविष्य के लिए स्थगित करना पड़ा है। इस पुस्तक से सम्बन्धित मानव धर्म-प्रचारकों के तिरंगे चित्र प्रकाशित करने की योजना भी क्रियान्वित होने से रह गई है। उक्त कठिनाइयों के कारण ही छपाई आरम्भ करके भी पुस्तक प्रकाशित होने में असाधारण रूप से बहुत विलम्ब हो गया है। फिर भी, प्रकाशकों का उत्साह अत्यन्त प्रशंसनीय है, जिन्होंने मुद्रण और प्रकाशन कार्य में अनेक कठिनाइयों की विद्यमानता में भी इस पुस्तक को इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित किया है।

चरित्रों का संकलन काल क्रमानुसार किया गया है। मानव-धर्म-प्रचारकों में बड़े-छोटे की विवेचना को मैं अनुचित और त्याज्य समझता हूँ। कुछ समय से अधिकांश लोगों में यह प्रवृत्त देखने में आ रही है कि जिन मानव धर्म-प्रचारकों को वे अपना कहते और समझते हैं, उनका ही विशेषतया आदर मान करते हैं, दूसरों का नाम तक सम्मानपूर्वक नहीं लेते। कोई-कोई तो ऐसे भी हैं, जो मानव-धर्म प्रचारकों की पक्षपातपूर्ण तुलना करके एक को अच्छा और दूसरे को बुरा प्रमाणित करने का मूर्खतापूर्ण विफल प्रयास किया करते हैं। ऐसे लोग ही वर्तमान् साम्प्रदायिक कटुता और झगड़ों के लिए उत्तरदायी हैं।

जिन विद्वानों के ग्रन्थों और पत्र पत्रिकाओं से सहायता लेकर इस पुस्तक का संकलन किया गया है, उनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

विभिन्न विचार श्रेणियों के माननीय विद्वानों से नम्रतापूर्वक निवेदन है कि उन्हें इस संग्रह में जो त्रुटियाँ प्रतीत हों, अथवा इसे और भी उत्तम रूप में प्रस्तुत करने के विषय में उनके प्रस्ताव हों, उन्हें सविवरण लिखकर भेजने की कृपा करें।

पुस्तक के पुनर्प्रकाशन और दूसरी भाषाओं में अनुवाद के समय उनकी सूचनाओं से पूरा-पूरा लाभ उठाया जायेगा। पुस्तक में प्रकाशित भावों के प्रति लेखक को कोई आग्रह नहीं है; अन्यथा प्रमाणित होने पर भाव-परिवर्तन के लिये लेखक अपना हृदय खुला रखता है।

श्री मानवती महाराज को धन्यवाद क्या दूँ ! उनकी अमोघ प्रेरणा पाकर ही मैंने इस पुस्तक का सकलन किया है। सम्पादक के रूप में उन्होंने इस पुस्तक की उपयोगिता को बहुत बढ़ा दिया है। एक महान् साहित्यिक, कलाकार, कुशल व्यापारी, आदर्श विचारक और ऐश्वर्य-सम्पन्न होते हुए भी वे जिस प्रकार अपने अन्तरात्मा की आवाज़ के सहारे चलते हुए ससार-भर के विरोध की अवहेलना कर रहे हैं, उस पर आलोचकों की दृष्टि है।

पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और सहयोग की हार्दिक आवश्यकता रखने और एक मात्र सत्य को ही अपना आराध्य-देव समझने-वाले सभी—निस्सकोच भाव से इस उत्तम ग्रन्थ को अपने पुत्र-पुत्रियों को भेंट कर सकते हैं। पाठशालाओं में बाल-बन्धुओं को सहिष्णु और उद्योगशील बनाने के लिये इसका उपयोग किया जा सकता है। बारम्बार के श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार द्वारा हम अपने व्यक्तिगत जीवन में इन चरित्रों से ज्योति स्तम्भ का काम ले सकते हैं। मानवता की रक्षा, गौरव-वृद्धि और लक्ष्य प्राप्ति के लिये—

दीवान हॉल, दिल्ली]

—जगतकुमार शास्त्री

राम

'स्वराज्य से मेरा अभिप्राय है, राम राज्य।"

—महात्मा गाँधी

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम का जीवन, उनके कार्य और आदर्श सहस्रों शताब्दियों से मानव जाति के लिये ज्योति-स्तम्भ के रूप में पथ प्रदर्शक बने चले आ रहे हैं। राम के चरित्र में जीवन के प्रत्येक पहलू की मानवोचित व्याख्या उपलब्ध होती है, जीवन समाम में अग्रसर होने का उत्साह मिलता है।

आर्य जाति की पतन अवस्था आरम्भ होने पर अनेक विपत्तियाँ आईं, अनेक महापुरुषों के इतिहास विलुप्त हो गये, फिर भी भगवान राम का यशस्वी नाम आज तक अक्षुण्ण चला आ रहा है। जब राम की बाल क्रीडा आरम्भ हुई थी, तभी से उसके यश का प्रसार भी आरम्भ हो गया था और तभी से उसका सुमर्यादित जीवन अनुकरणीय घटनाओं से ओत प्रोत रहा है। राम की गुरु भक्ति, पितृ भक्ति, भ्रातृ प्रेम, ईश्वर विश्वास, पत्निव्रत धर्म

पालन, शासन सूत्र सचालन, विद्वत्ता, शौर्य और धैर्य ने उनके जीवन काल मे ही करोड़ों नर नारियो को उनका भक्त बना दिया था। उन लोगो ने अपनी सन्तानों को, और उन सन्तानो ने अपनी सन्तानों को, एक पीढी ने दूसरी पीढी को, राम का पवित्र चरित्र सुनाना अपना कर्तव्य समझा। यही अवस्था इस समय भी वर्तमान है। राम का गौरव गान पुस्तकों में लिपिबद्ध होकर ही नहीं रह गया, प्रत्युत उदात्त स्वर से, करोड़ों हृदयों से अङ्कुरित हो रहा है। भारत का कोई भी आर्य गृहस्थ व गृहिणी ऐसे नहीं हैं, जो राम चरित्र से अपरिचित हो। राम-नाम की ध्वनि पद-पद पर कर्णगोचर होती है।

एक समय ऐसा भी आया था, जबकि भारत मे ही नहीं, पृथ्वी के अन्यान्य भागों में भी राम का गौरव गान व्याप्त था। अमेरिका के प्राचीन निवासियो का 'रामा-सत्रा पर्व' राम और सीता के चरणों मे श्रद्धाजलि स्वरूप ही है। और स्पष्ट प्रकट करता है कि प्राचीन काल में राम-सीता के चरित्र ने अमेरिका वासियो को अपनी ओर आकर्पित और प्रभावित किया था। भगवान राम के पवित्र चरित्र पर जनता को मुग्ध देख तथा स्वय मुग्ध होकर किन-किन लेखकों और कवियो ने, किन किन ग्रन्थो-द्वारा, किस किस समय में, राम गौरव गान कर, अपनी लेखिनी, प्रतिभा और कवित्व शक्ति को सफल किया है, उन सब का

विवरण देना प्राय अशक्य ही है। भारत में संस्कृत तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में सैकड़ों ग्रन्थ इस समय भी विद्यमान हैं, जिनमें संक्षिप्त रूप से अथवा विस्तारपूर्वक ग्रन्थकर्ताओं ने निज निज भावानुरूप राम चरित्र वर्णन् किया है। इनमें भी, संस्कृत में महर्षि वाल्मीकि कृत 'रामायण' और हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास कृत 'राम चरित्र मानस' का स्थान बहुत ऊँचा है। ये पुस्तकें धर्म शास्त्रों के समान ही आदरणीय, पवित्र और प्रामाणिक मानी जाती हैं तथा प्रेमपूर्वक पढ़ी सुनी जाती हैं।

पुत्र, शिष्य, भ्राता, पति, मित्र, सेनापति, स्वामी, शासक, पिता और मनुष्य जिस भी दृष्टि से देखें, राम आदर्श दिखाई देता है। वह सभ्यता मात्र का प्रतिनिधि है। समाज शास्त्रियों और धर्म शास्त्रियों ने उसे 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहा है। शोषितवर्ग ने उसे पतित पावन के रूप में देखा है। श्रद्धालु भक्त इतने से सन्तुष्ट नहीं, अत उन्होंने 'मर्यादा पुरुषोत्तम' को 'पूर्ण पुरुष परमात्मा' के सिंहासन पर बैठाना उचित समझा है। राम चरित के साधारण वर्णन में भी वे सन्तुष्ट नहीं, अत उन्होंने राम चरित्र को भी अलौकिक रूप में वर्णित किया है। श्रद्धातिरेक में ऐसा होता ही है।

विद्वानों ने अपने-अपने भावानुसार राम को विभिन्न रूपों में देखा है। मेरे सामने राम का विराट स्वरूप है।

मुझे तो उसमें सभी महापुरुषों की विशेषताओं, और सभी महान् धर्मों की भलाइयों और सम्पूर्ण नीति उपदेशों का 'समुच्चय' दिखाई दे रहा है। मैं राम को 'मानव-धर्म' के महान् प्रचारक के रूप मे देखता हूँ। राम तेरा मेरा या इसका और उसका नहीं, वह तो सब का है। रामायण का आरम्भ करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है—

> सर्वदाभिगत सद्भि, समुद्र इव सिन्धुभि ।
> आर्य सर्व समश्चैव, सदैक प्रिय दर्शन ॥
>
> बालि० १/१/१६

अर्थ—राम आर्य है, सब से समान व्यवहार करता है। वह मनसा वाचा, कर्मणा एक है, प्रियदर्शी है। जैसे नदियाँ समुद्र के पास जाती हैं, ऐसे ही सब सज्जन लोगो के लिये राम के द्वार सदा खुले हैं।

फिर लिखा है—

> सर्व विद्या व्रत स्नातो, यथावत्साङ्गवेद वित् ।
> इष्वस्त्रेच पितु श्रेष्ठो, बभूव भरताग्रज ॥
>
> अयो० १/२०

अर्थ—भरत का बड़ा भाई राम, सर्व विद्या पारगत और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों में निष्णात था। उसने अगो-पाग सहित वेदाध्ययन किया था। वह धनुर्वेद मे पिता से भी अधिक निपुण था।

धर्म कामार्थ तत्वज्ञ , स्मृतिमान् प्रति भानवान् ।
लौकिके समयाचारे कृत कल्पो विशारद ॥
अयो० १/२२

धर्म, काम और अर्थ के तत्व को भली प्रकार जानता था, उनकी स्मरण-शक्ति और प्रतिभा अनुपम थी। वह लौकिक धर्म और समयोचित आचार का मर्मज्ञ और उनके अनुसार आचरण करने में समर्थ था।

वाल्मीकिजी ने रामायण के अनेक प्रसङ्गों मे राम की जिस गुणावली का वर्णन किया है, उससे भी यही बोध होता है कि महापुरुषो में जितने उत्तमोत्तम गुण होने चाहिये, वे सभी राम में वर्तमान थे।

राम के जन्म स्थान अयोध्या का जो विवरण महर्षि वाल्मीकि ने दिया है, उसमे से कुछ, संक्षेप मे इस प्रकार है—

'नगर के बीचों-बीच यथोचित स्थानो में साल वृक्षों मे घिरे हुए और आम्र आदि वृक्षों से सुशोभित क्रीड़ा-स्थान बने हुए थे। स्वच्छ निर्मल जल से भरे हुए सुन्दर-सुन्दर सरोवर भी यथा स्थान विद्यमान थे। श्रमजीवी भी दिन-भर की कमाई के बदले सोने का एक छोटा सा सिक्का प्राप्त कर लेते थे। राजधानी-भर मे कोई भी मनुष्य ऐसा न था। जो क्षुधा से पीडित, दीन अथवा दरिद्री हो। लोग प्राय सुवर्ण और रत्नों के आभूषणों से विभूषित रहते थे। नाना प्रकार के रथ, हाथी, घोड़े, गौ आदि

रखते थे। इन्हीं के साथ कर-दाता राज्यों के राजदूत तथा अन्य राज्यो के राजदूत और विभिन्न देशो से व्यापार के लिये आये हुए व्यापारी भी निवास करते थे। शिक्षण और रक्षण का प्रबन्ध ऐसा उत्तम था कि नगर मे कामी, कायर, क्रूर, अविद्वान्, नास्तिक तथा चोर-आदि के नाम कठिनता से ही सुन पड़ते थे। सब नर नारी धर्मपरायण थे। प्रजा सब प्रकार सुखी थी। अयोध्या-भर में कोई भी मनुष्य ऐसा न था, जो राजाज्ञा का पालन न करता हो अथवा जो राज भक्त न हो।'

महाराजा दशरथ ने सन्तान की कामना से एक एक करके तीन विवाह किये। अनेक औषधोपचार-आदि प्रयत्नो के पश्चात् कौशल्या के गर्भ से राम कैकेयी के गर्भ से भरत और सुमित्रा की कुक्ष से लक्ष्मण और शत्रुघ्न के जन्म हुए। यह सर्व-विदित है ही। मैं केवल कुछ घटनाओं का ही उल्लेख करूँगा। महाराजा दशरथ ने कुमारो की शिक्षा दीक्षा की यथोचित व्यवस्था की। वे यथा-समय सकल विद्या पारगत हो गये। एक बार महर्षि विश्वामित्र राज-दरबार मे उपस्थित होकर बोले—'राजन्! हमारे यज्ञ-कर्मो मे कुछ समय से विघ्न होने लगा है। जब हम यज्ञ करने लगते हैं तो मारिच और सुबाहु नाम के दो राक्षस, जो बड़े बलवान्, अस्त्र-शस्त्र विद्या के सुशिक्षित हैं, यज्ञ वेदी में मास, रुधिर आदि अपवित्र वस्तुओं की वर्षा

करने लगते हैं। इससे हमारा यज्ञ निष्फल हो जाता है। अत आप राम को यज्ञ रक्षा के लिये दीजिये। महाराजा दशरथ ने कुछ आनाकानी की, तो विश्वामित्र ने कहा—

न च तौ राममासाद्य, शक्तौ स्थातुं कथञ्चन।
बाल० १९/११

वे दोनों राक्षस, राम के मुक़ाबले पर ठहर नहीं सकते।

न च तौ राघवादन्यो, हन्तुमुत्सहते पुमान्॥
बाल० १९/१२

राम के सिवा कोई अन्य पुरुष उनका अन्त करने में समर्थ न हो सकेगा। अन्त में महाराज ने राम को देना स्वीकार किया। पिता की अनुमति से लक्ष्मण भी भाई और गुरु के साथ-साथ तपोवन में पहुँचा।

यज्ञ आरम्भ हुआ। राक्षस आये। सुबाहु राम के हाथों मारा गया। मारीचि घायल होकर भाग गया। तदन्तर महा मायाविनी, घोर विकराला ताड़का, मुक़ाबले पर आई। राम को कर्तव्य दुविधा ने आ घेरा। वह सोचने लगा, 'स्त्री पर हाथ उठाना उचित है या अनुचित?' गुरु ने राम की मनोदशा को ताड़ लिया और परिस्थिति की भीषणता को पूर्णतया अनुभव करते हुए तुरन्त स्पष्ट आदेश दिया—

एनां राघव दुर्वृत्तां, यक्षीं परम दारुणीम्।
गो ब्राह्मण हितार्थाय, जहि दुष्ट पराक्रमाम्॥
(वाल्मीकि)

हे राघव ! गौ और ब्राह्मण की हित-रक्षा के लिए इस दुष्टा राक्षसी का वध करो ।

नहि ते स्त्री वध कृते, घृणा कार्या नरोत्तम ।
अधर्मम जहि काकुत्स्थ, धर्मो हि-यस्या न विद्यते ॥

(बाल्मीकि)

हे पुरुषोत्तम ! स्त्री-वध समझकर इस कार्य से घृणा मत करो । हे काकुत्स्थ ! वह स्त्री अत्यन्त दुष्टा—अधर्म-रूप है । धर्म का तो इसमें लेश भी नहीं ।

स्वबाहु बलमाश्रित्य, जहीमां दुष्ट चारिणीम् ।
मन्नियोगाद्विम देश, कुरु निष्कण्टकं पुन ॥

(बाल्मीकि)

निज भुज बल से इस दुष्टा का वध करके मेरी आज्ञानुसार इस प्रदेश को निष्कण्टक कर ।

चातुर्वर्ण्य हितार्थाय, कर्तव्य राज सुनुनाम् ।
नृशंसं वानृशंस्यवा, प्रजा रक्षण कारणात् ॥

(बाल्मीकि)

चारों वर्णों के हित और प्रजा की रक्षा के लिए इस प्रकार की दुष्टाओं का वध करना राजपुत्रों का कर्तव्य है ।

पातक वा सदोष वा, कर्तव्य रक्षिता सदा ।
राज्य भारी नियुक्तानां, एष धर्म सनातन ॥

(बाल्मीकि)

राज्य पुत्रों को चाहिए कि कर्तव्य - पालन करते हुए

यदि कोई पातक रूप और दोषपूर्ण कर्म भी करना पड़े, तो अवश्य करे, यही सनातन धर्म है*

गुरु के आदेश की देर थी। राम बाण के आघात से ताड़िका पंचतत्व को प्राप्त होगई।

राक्षसों के नाश और यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति से महर्षि विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए। दोनों भाइयों का धन्यवाद किया और उन्हें शस्त्रास्त्र विद्या-सम्बन्धी अनेक उत्तमोत्तम निर्देश दिये। पुन मिथिलाधीश महाराजा जनक की महाराजकुमारी सीता के स्वयम्वर का समाचार पाकर दोनों राजकुमारों सहित जनकपुर पहुँचे। महाराजा जनक ने सब का यथोचित स्वागत किया।

स्वयम्वर में राम विजयी हुए। महाराजा जनक ने विश्वामित्रजी को अनुमति से महाराजा दशरथ को सन्देश भेजा—

'आपको ज्ञात है कि मैंने अपनी पुत्री सर्वोपरि वीर को देने की प्रतिज्ञा की थी। आपको यह भी ज्ञात है

---

* महर्षि मनु ने लिखा है—

गुरं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायन्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

गुरु हो, बाल हो, वृद्ध हो अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण हो, जो आततायी है, वह फिर कोई भी क्यों न हो, उसका बिना विचारे वध कर देना चाहिए।

कि राजाओं ने किस प्रकार अभिमान किया और निर्बल सिद्ध हो, विमुख होगए। सो हे राजन्! अब मेरी सुता को विश्वामित्र के साथ आये हुए आपके पुत्र ने जीत लिया है।'

इस सन्देश को पाकर दशरथ के हर्ष का ठिकाना न रहा। अयोध्या और अवध में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। महाराजा दशरथ बारात लेकर जनकपुर पहुंचे और धूमधाम से 'सीता राम' का विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ।

उसी अवसर पर जनक सुता उर्मिला का लक्ष्मण के, और महाराजा जनक के अनुज कुशध्वज की बड़ी कन्या माण्डवी का भरत के साथ, और छोटी कन्या श्रुतकीर्ति का शत्रुघ्न के साथ, विवाह होगया।

महाराजा जनक ने बहुमूल्य पदार्थ रथ, हाथी, घोड़े-आदि देकर कौशलेश को पुत्रों और पुत्र-वधुओं-सहित विदा किया। मार्ग में भृगुवंशी परशुरामजी राम की परीक्षा लेने आ धमके। इसने थोड़ी देर के लिए सब को चिन्तित कर दिया। परन्तु राम ने अपने बल पराक्रम के प्रदर्शन से परशुरामजी को शीघ्र ही सन्तुष्ट कर दिया। महाराजा दशरथ ने सानन्द धूम धाम-सहित, अयोध्या में प्रवेश किया।

एक दिन महाराजा दशरथ ने राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करने का प्रस्ताव राज सभा में उपस्थित किया। सब ने उसका हृदय से अनुमोदन किया। युवराज्याभिषेक

की तैयारियाँ हो रही थीं। राजमहल, नगर और देश में आनन्द-लहरी हिलोरें मार रही थी। परन्तु महारानी कैकेयी की एक मुँह-लगी और सिर चढ़ी दासी मन्थरा ने रंग में भंग कर दिया। कैकेयी से कहने लगी—"तू क्यों निश्चित बैठी है? जब राम युवराज होगा, तब क्या तू कौशल्या के बराबर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेगी? कैकेयी बोली—"मन्थरा! रामाभिषेक की बात सुनाकर तूने मुझे बहुत सुख पहुँचाया है। ले, यह आभूषण तुझे पुरस्कार देती हूँ।"—

> रामे वा भरते वाहं, विशेषं नोपलक्षये।
> तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा, रामं राज्ये ऽभिषेक्ष्यति ॥
>
> वा० अयो० ७ ३५

"मैं राम और भरत को समान समझती हूँ। 'राजा, राम का अभिषेक करना चाहते हैं' मैं इससे बहुत सन्तुष्ट हूँ।"

परन्तु मन्थरा ने ऐसी ऐसी बातें कहीं कि अन्त में कैकेयी का भाव बदल गया और उसने महाराजा दशरथ से पूर्व-प्राप्त दो वरों के आधार पर भरत को राज्य और राम को चौदह वर्ष के लिये वनवास देने का अनुरोध किया। कैकेयी को समझाने बुझाने के सब प्रयास विफल हुए। मूर्छित पिता, रोते कलपते दुखी परिवार, राजकर्मचारियों और नगर-वासियों को छोड़कर राम ने वन की ओर

प्रस्थान किया। स्नेही भाई लक्ष्मण और पति-परायणा सीता ने राम का अनुगमन किया। तमसा को पार कर, गंगा-किनारे पहुँचने पर निषाद राज गुह ने राम का यथोचित आतिथ्य किया। एक रात वहाँ पर निवास करके राम, लक्ष्मण और सीता आगे बढ़े और अनेक वनों में विचरते हुए चित्रकूट में पहुँचकर पर्णशाला बनाकर रहने लगे।

अयोध्या में, दशरथ ने 'हा राम ! हा सीता' कहते हुए मृत्यु का आलिंगन किया। भरत और शत्रुघ्न को उनके ननिहाल कैकेय देश से बुलाया गया। आने पर भरत ने कैकेयी से पूछा—"पिताजी कहाँ हैं?" कैकेयी ने मृत्यु समाचार कह सुनाया। भरत शोकाकुल होकर रोने लगा। कैकेयी समझा-बुझाकर शान्त करने लगी। भरत ने पुनः कहा—मेरे पिता तुल्य बड़े भाई राम को बुलाओ कि मैं उनके चरण छू कर शान्ति प्राप्त करूँ।" कैकेयी ने कहा—'तुम्हारे पिता ने राम को दण्डक वन का वास दिया है और उनके साथ ही सीता और लक्ष्मण गये हैं।" तब भरत भयभीत होकर पूछने लगा—

कच्चिन्न ब्राह्मण धनं, हृतं रामेण कस्यचित्।
कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा, तेनापापो विहिंसितः॥

वा० अ० ७२।४४

क्या राम ने किसी ब्राह्मण का धन हरण किया था? अथवा किसी निरपराध धनाढ्य या दरिद्र को मार डाला था।?"

कच्चिन्न पर दारान वा, राजपुत्रोऽभिमन्यत ।
कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्रूणहेव विवासित ॥
वा० रा० ७२।४५

क्या राम ने किसी पराई स्त्री को अपनी स्त्री बना लिया था ? राम को भ्रूण हत्यारे के समान बनवासी क्यों बनाया गया ?

कैकेयी को सब कुछ साफ साफ कहना पड़ा। बोली—"मैंने बड़े यत्न से तुम्हारे लिये राज्य और राम के लिये बनवास, महाराज से प्राप्त किया है।" यह सुनकर भरत शोकाकुल होकर गिर पड़ा और ऊँचे स्वर से विलाप करने लगा। भरत की आवाज सुनकर मलिन वस्त्रा और सन्तप्तमना कौशल्या रोती हुई उधर आई। भरत और शत्रुघ्न भी उसकी ओर दौड़े। कौशल्या दोनो पुत्रो को गोद में लेकर रुदन करने लगी। जब आवेग कुछ कम हुआ तो कौशल्या कहने लगी। "भरत, अब यह सब राज्य तुम्हारा है, जिसकी तुम्हें इतनी कामना थी। अब तुम्हारा कोई शत्रु यहाँ नहीं है।" भरत को इन वचनों के सुनने से बड़ा कष्ट हुआ। उसने कहा—"माता ! जबकि मैं इन बातो से सर्वथा अनभिज्ञ हू तो फिर मैं दोषी कैसे ठहर सकता हूँ ? प्रजा का पुत्रवत पालन करने वाले राजा से द्रोह करनेवाले का जो पाप होता है, राजा, स्त्री, बालक या वृद्ध के वध करने में जो पाप होता है, अपनी धर्मपत्नी

को छोड़कर पर-नारी-सेवन तथा धर्म विगर्हित कर्मों में लगे रहनेवालों को जो पाप होता है, वह सब पाप मुझे लगे, यदि मेरी अनुमति से राम-वनवास हुआ हो।"

भरत दुःख से कातर होकर पुनः भूमि पर गिर पड़ा और रोने लगा। कौशल्या भरत को छाती से लगाकर बोली—"पुत्र! मैंने देख लिया, तू धर्म से विचलित होनेवाला नहीं, तु सत्य-प्रतिज्ञ है।" माता और पुत्र के रोते-कलपते रात बीत गई। भरत ने यथा विधि पिता के शव की दाह आदि क्रियायें पूर्ण कीं।

एक दिन भरत और शत्रुघ्न बैठे राम वनवास की बातें कर रहे थे कि मन्थरा उधर आ निकली। शत्रुघ्न क्रुद्ध होकर दौड़ा और मन्थरा की चुटिया पकड़कर घसीटने लगा। भरत ने शत्रुघ्न को रोककर कहा—"इसे क्षमा करो, यदि राम को इस कुबड़ी के वध का हाल ज्ञात होगा तो निश्चय है कि वह धर्मात्मा तुमसे तथा मुझसे नहीं बोलेंगे।" इस पर शत्रुघ्न ने दासी को छोड़ दिया।

पिता के क्रिया-कर्म से निवृत्त होकर भरत गुरुजनों, परिवारिक जनों, राज पुरुषों पुर-वासियों आदि-सहित राम को लौटा लाने के लिये पता लगाता लगाता वन में राम की कुटिया पर पहुँचा। राम को देखकर वह दूर से ही दौड़ा और भाई के चरणों से लिपटकर विलाप करने लगा। शत्रुघ्न भी प्रणाम करके रोने लगा। सुमन्त और गुह भी

पहुँच गये। मातायें भी, पुरवासी भी, गुरुजन भी, राम, लक्ष्मण और सीता अभिवादन-प्रत्यभिवादन करते हुए विस्मित हो रहे थे। राम ने भरत से वन आने का कारण और पिता का कुशल समाचार पूछा। भरत का उत्तर पाकर राम, सीता, लक्ष्मण रुदन करने लगे।

लौट चलने के आग्रह को अमान्य बताते हुए राम ने कहा—

कुलीन सत्त्वसम्पन्न, तेजस्वी चरित व्रत।
राज्य हेतो कथ पाप, आचरन्मद्विधोजन॥

वा० अ० १०१।१६

कुलीन, सत्त्व, सम्पन्न, तेजस्वी और चरित्रवान् होकर मुझ-जैसा कोई मनुष्य राज्य के लिये पाप कैसे कर सकता है ? भरत और माता कैकेयी को दोष मुक्त बताते हुए राम ने कहा—

न दोष त्वयि पश्यामि, सूक्ष्ममप्यरि सूदन।
न चापि जननीं बाल्यात्, त्व विगर्हितुमर्हसि॥

वा० अ० १०१।१७

हे भरत ! मैं तुममें जरा भी दोष नहीं देखता। बाल बुद्धि वश माता कैकेयी को तुम्हारा दोषी बताना भी उचित नहीं है।

पिता की प्रतिज्ञा पालनार्थ मेरा वन में रहना और तुम्हारा अयोध्या में राज्य करना, सर्वथा उचित है।

उस दिन पितृ शोक के कारण राम, सीता और लक्ष्मण ने आहार भी ग्रहण नहीं किया।

दूसरे दिन सभा में भाषण देते हुए भरत ने कहा— "मेरी माता कैकेयी मेरे लिये राज्य पाकर सन्तुष्ट हो गई! मैं अपने पिता से पाये हुए राज्य को अब अपने बड़े भाई राम के चरणों में समर्पण करता हूँ। मैं पितृ विहीन, पिता तुल्य अपने बड़े भाई से सब प्रकार के लालन-पालन की आशा करता हूँ।"

राम ने इसे स्वीकार न किया। सभा में एक जाबाल नामक ऋषि भी थे। वे राम को सम्बोधन कर कहने लगे—

"हे राम, आप पितृ-आज्ञा पालन आदि पर जो इतना बल दे रहे हैं, सो व्यर्थ है। कौन किसका पुत्र और कौन किसका पिता है? अकेला ही जीव पैदा होता और अकेला ही मर जाता है, कोई किसी का नहीं है। महाराज दशरथ की मृत्यु के साथ ही उनकी सब बातें भी गई। आप अयोध्या में चलकर राज्य का उपभोग करें। इन धार्मिक ढकोसलों में क्या रखा है?"

राम ने जाबाल के प्रेम-भाव के लिये धन्यवाद किया और उनके कथन का युक्ति सगत उत्तर देकर उन्हें मौन कर दिया।

अन्त में भरत ने एक खड़ाऊँ का जोड़ा राम के

सन्मुख रखा और कहा कि आप इन पर अपने चरण रख दें। राम ने वैसा ही किया। तब भरत उन खड़ाऊँ को सादर ग्रहण कर, कहने लगा—'हे वीर, अयोध्या के राज सिंहासन पर खड़ाऊँ का यह जोड़ा रखा जायेगा। जटा तथा वल्कल-वस्त्र धारण करके और फल मूल खाते हुए चौदह वर्ष तक मैं अयोध्या के बाहिर निवास करूँगा और वहीं से राज कार्यों का सम्पादन करता रहूँगा। यदि चौदह वर्ष समाप्त होते ही आप अयोध्या न पहुँचे तो मैं अग्नि में प्रवेश करके भस्म हो जाऊँगा।'

भरत के वचन सुन, राम ने भरत और शत्रुघ्न को छाती से लगा लिया और फिर सब को यथायोग्य मिलकर आँसू भरे नेत्रों से विदा किया।

कुछ काल पश्चात् राम सीता और लक्ष्मण भी चित्रकूट से चले और अनेक वनों का भ्रमण तथा सन्त, महात्माओं का सत्संग करते हुए अन्त में पंचवटी में आकर रहने लगे। एक दिन शूर्पणखा नाम राक्षसी वहाँ आई और राम को देखकर मोहित हो गई और राम के साथ विवाह की इच्छा प्रकट करने लगी। राम ने इसे अस्वीकार कर दिया। उसने लक्ष्मण से प्रार्थना की तो उसने भी इन्कार कर दिया। तब वह क्रुद्ध होकर सीता को मारने चली। आत्म रक्षा के भाव से प्रेरित होकर राम ने लक्ष्मण को इशारा किया कि इस दुष्टा को दण्ड मिलना चाहिये।

्दमण ने कटार निकालकर शूर्पणखा के कान और नाक
ाफ कर दिये। वह रोती-रोती अपने भाई खर और
ूषण के पास पहुँची। खर और दूषण तथा उनके और
ी बहुत से साथी शूर्पणखा के नाक और कान का बदला
ेने के लिये चढ आये और युद्ध में लडते हुए राम के
ाथो मारे गये।

पचवटी के युद्ध से भागकर एक 'अकम्पन नामक
ाक्षस लकापति रावण के पास पहुँचा। उसमे खर आदि
के वधका समाचार पाकर रावण को बहुत क्रोध आया।
फिर शूर्पणखा भी रावण के पास पहुँची। रावण और भी
क्रुद्ध होकर मारिच राक्षस को साथ लेकर पचवटी मे
पहुँचा। मारीचि से राम के पराक्रम की बात सुनकर युद्ध मे
साम्मुख्य करने का साहस तो रावण ने न किया, चालाकी
से काम बनाना चाहा। मारीचि मृग का वेश बनाकर सीता
के सामने विचरने लगा। सीता ने कहा—"इस मृग को
पकडना चाहिए। लक्ष्मण ने कहा—"मृग तो ऐसा सुन्दर
होता नहीं। मैंने, सुना है कि मारीचि मृग का वेश बनाया
करता है। राम ने कहा—"यह मारीचि है तो मैं इसे मार
डालूँगा और मृग है तो इसे पकड लूँगा। तुम सीता को रक्षा
करो। मैं मृग की ओर जाता हूँ।'[१]

[१] यही मृग सोने के मृग के नाम से प्रसिद्ध है। एक कवि
ने लिखा है—

राम को आता देख, मृग भागता हुआ दूर निकल गया। राम भी उसके पीछे भागते रहे। अन्त मे राम ने मारीचि को पहिचान लिया और एक बाण ऐसा मारा कि वह पृथ्वी पर गिर पडा। मरते समय मारीचि ने ऊपर से मृग चरम को उतारकर फेंक दिया और 'हा सीते ! हा लक्ष्मण !' कहते हुए मर गया। मारीचि के शब्दों को सुनकर सीता ने राम की सहायतार्थ लक्ष्मण को उस ओर भेज दिया।

लक्ष्मण के जाने पर रावण दण्डकमण्डलधारी साधु के वेश में सीता के निकट पहुँचा। अतिथि समझ, सीता ने सत्कार के लिए जल आदि उसके सामने रखा। परन्तु साधु को उससे काम ? उसने सीता को बलात् पकड़कर उठाया और आकाश यान पर चढ़कर लंका को चलता बना।

सीता ने राम लक्ष्मण को पुकारा, पर दूरी के कारण वे उसका शब्द न सुन सके। मार्ग मे एक पर्वत पर सीता

न भूत पूर्वो न कदापि दृष्टा, न श्रूयते हेममयी कुरंगी।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य, विनाश काले विपरीत बुद्धि ॥

सोने का मृग न कभी हुआ, न हो किसी ने देखा या सुना। फिर भी राम को तृष्णा ने आ दबाया। जब बुरे दिन आते हैं तो बुद्धि उलटी हो जाती है।

लक्ष्मण ने कटार निकालकर शूर्पणखा के कान और नाक साफ कर दिये। वह रोती-रोती अपने भाई खर और दूषण के पास पहुँची। खर और दूषण तथा उनके और भी बहुत से साथी शूर्पणखा के नाक और कान का बदला लेने के लिये चढ आये और युद्ध मे लडते हुए राम के हाथो मारे गये।

पंचवटी के युद्ध से भागकर एक अकम्पन नामक राक्षस लंकापति रावण के पास पहुँचा। उससे खर आदि के वधका समाचार पाकर रावण को बहुत क्रोध आया। फिर शूर्पणखा भी रावण के पास पहुँची। रावण और भी क्रुद्ध होकर मारिच राक्षस को साथ लेकर पंचवटी मे पहुँचा। मारीचि से राम के पराक्रम की बात सुनकर युद्ध मे साम्मुख्य करने का साहस तो रावण ने न किया, चालाकी से काम बनाना चाहा। मारीचि मृग का वेश बनाकर सीता के सामने विचरने लगा। सीता ने कहा—"इस मृग को पकडना चाहिए। लक्ष्मण ने कहा—"मृग तो ऐसा सुन्दर होता नहीं। मैंने सुना है कि मारीचि मृग का वेश बनाया करता है। राम ने कहा—"यह मारीचि है तो मैं इसे मार डालूँगा और मृग है तो इसे पकड लूँगा। तुम सीता की रक्षा करो। मैं मृग की ओर जाता हूँ।"*

* यही मृग सोने के मृग के नाम से प्रसिद्ध है। एक कवि ने लिखा है—

राम को आता देख, मृग भागता हुआ दूर निकल गया। राम भी उसके पीछे भागते रहे। अन्त में राम ने मारीचि को पहिचान लिया और एक बाण ऐसा मारा कि वह पृथ्वी पर गिर पडा। मरते समय मारीचि ने ऊपर से मृग चरम को उतारकर फेंक दिया और 'हा सीते! हा लक्ष्मण!' कहते हुए मर गया। मारीचि के शब्दों को सुनकर सीता ने राम की सहायतार्थ लक्ष्मण को उस ओर भेज दिया।

लक्ष्मण के जाने पर रावण दण्डकमण्डलधारी साधु के वेश में सीता के निकट पहुँचा। अतिथि समझ, सीता ने सत्कार के लिए जल आदि उसके सामने रखा। परन्तु साधु को उससे काम? उसने सीता को बलात् पकड़कर उठाया और आकाश यान पर चढकर लंका को चलता बना।

सीता ने राम लक्ष्मण को पुकारा, पर दूरी के कारण वे उसका शब्द न सुन सके। मार्ग में एक पर्वत पर सीता

न भूत पूर्वो न कदापि दृष्टा, न श्रूयते हेममयी कुरंगी।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य, विनाश काले विपरीत बुद्धि॥

सोने का मृग न कभी हुआ, न ही किसी ने देखा या सुना। फिर भी राम को तृष्णा ने आ दबाया। जब बुरे दिन आते हैं तो बुद्धि उलटी हो जाती है।

ने कुछ आदमियों को बैठे देखकर आभूषण और वस्त्र उनके पास गिरा दिए।

रावण ने लंका ले जाकर सीता को अशोक - वाटिका में कैद कर दिया। कई बार अपना प्रेम प्रदर्शित करके सीता से विवाह का प्रस्ताव किया। डराया, धमकाया, बहकाया, फुसलाया, परन्तु सीता अपने सतीत्व पर दृढ़ रही और प्रत्येक बार रावण के प्रस्तावों को ठुकराती और प्रयासों को विफल बनाती रही।

राम और लक्ष्मण सीता के वियोग में रोते, दुःखी होते, वन वन घूमने लगे। प्रिया वियोग में उन्मत्तवत राम वृक्षों और पशु-पक्षियों से पुकार-पुकारकर सीता का पता पूछता। दोनो खोजते हुए शबरी नामक तपस्वीनी के आश्रम में पहुँचे*।

तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा, समुत्थाय कृताञ्जलि ।
पादौ जग्राह रामस्य, लक्ष्मणस्य च धीमत ॥

वा० अर० ७४।६

---

* शबरी एक भील कुलोत्पन्न स्त्री थी। ऋषियों के सत्संग, उपदेश ग्रहण और योग साधन-द्वारा वह सिद्धा होगई थी। वर्तमान काल के समान स्त्रियों पर, और जन्म जाति के आधार पर, नीच ऊँच मानकर किसी जाति - विशेष पर राम के समय सामाजिक अत्याचार न होता था। शबरी इसका एक उदाहरण है।

राम और लक्ष्मण को देखकर सिद्धा शबरी ने उठकर और हाथ जोड़कर राम तथा मतिमान लक्ष्मण की चरण-वन्दना की।

पाद्यमाचमनीयञ्च, सर्वं प्रादाद्यथा विधि ॥
वा० अर० ७४ ७

पाँव धोने को तथा आचमन करने को जल, बैठने को आसन और खाने को भोजन से दोनों का आतिथ्य सत्कार किया।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है —

सबरी देखि राम गृह आये। मुनि के बचन समुझि मन भाये॥
सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥
स्याम गौर सुन्दर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥
सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुन्दर आसन बैठारे॥

कंद मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाएऊ, बारम्बार बखानि॥

पानी जोरि आगे भइ ठाढ़ी। प्रभुहिं बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥
केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी॥
अधमते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमन्द अघारी॥
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानौं एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहै कैसा? बिनु जल बारिद देखिये जैसा॥

के सरदार तथा राज कर्मचारी भी आ उपस्थित हुए। बाली ने सुग्रीव से क्षमा-याचना की, तारा और अंगद का रक्षा-भार सुग्रीव को सौंपा, तारा और अंगद को सुग्रीव का आज्ञानुवर्ती रहने का आदेश दिया। सुग्रीव को राज्य-व्यवस्था करने और राम के साथ की हुई प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए समझाया। कर्मचारियों और प्रजा वर्ग को सुग्रीव के आदेशानुसार बर्तने को कहा। पुन: सुग्रीव का गाढ़ालिंगन करते हुए कहा—'हम दोनों भाइयों के भाग्य में जीते-जी भ्रातृ-स्नेह का उपभोग न था। कर्म-फल प्रबल है। उसे कौन टाल सकता है?'

बाली की मृत्यु के पश्चात् राम ने सबको सान्त्वना दी। सुग्रीव ने यथा-विधि बाली का दाह कर्म-आदि किया।

हनुमान ने राम से नगर में चलकर सुग्रीव का राज्याभिषेक करने का अनुरोध किया। राम ने बनवास की कथा सुनाकर नगर प्रवेश में असमर्थता प्रकट की।

वानर-सरदारों ने यथाविधि सुग्रीव को राज-पद पर अभिषिक्त किया। सुग्रीव ने सीता की खोज के लिए सब ओर अपने आदमी भेजे। सीता के लंका में होने का समाचार पाकर ठीक निश्चय करने के लिए हनुमानजी समुद्र में तैरकर लंका पहुँचे*।

---

* प्रो० रामदेवजी ने अपने 'भारतवर्ष के इतिहास' में लिखा है—'इस समय लंका और भारत के बीच २८ मील का अन्तर

अशोक वाटिका में माता सीता के कष्टो को देखा। मिलकर वार्तालाप किया। राम की निशानी अँगूठी दी और सीता की निशानी चूड़ा लिया। राम के शीघ्र ही लका पर चढ़ाई करके रावण को दण्ड देने और मिलने की बात कही तथा और भी कई प्रकार आश्वासन दिया।

चलते समय छिपे छिपे जाना उचित न समझा तो वाटिका को उजाड़ा, पहरेदारो को मारा, रावण पुत्र अक्षयकुमार का वध किया, लका मे आग लगाई और इस प्रकार अपना पराक्रम दिखाकर रावण को एक प्रकार से भावी के विषय में अच्छी चेतावनी दे दी। पुन राम के पास आकर सीता का तथा लका का सब वृत्तान्त सुनाया।

राम ने हनुमान का धन्यवाद किया। पुन लका विजय की तैयारी करके सैन्य सहित समुद्र तट पर पहुँच गये और समुद्र पार करने के उपायों पर विचार करने लगे।

रावण भी शत्रु को सिर पर देखकर अपने बचाव के उपाय करने लगा। इसी बीच मे रावण ने एक ऐसी गलती

है। बीच में मेनार तथा रामेश्वर नाम दो टापू है। समुद्र भाग केवल २३ मील है। (देखिये इन्टरनेशनल ज्यॉग्राफी पृ० ५०४) समुद्र भाग में जल बहुत थोड़ा है। फ्रास और इग्लैण्ड के बीच 'इगलिश चैनल' नाम खाड़ी की चौड़ाई प्राय २१ मील है। कई बलवान पुरुष (एक स्त्री भी) उसे तैर कर पार कर जाते हैं। बालब्रह्मचारी हनुमान का २३ मील समुद्र तरना असम्भव नहीं है।

की, जो कि आगे चलकर उसके सर्वनाश का कारण सिद्ध हुई। रावण का भाई विभीषण सरल चित्त, उदार-हृदय और धार्मिक वृत्ति का मनुष्य था। उसने रावण को समझाया—'आपने पर-नारी का अपहरण किया है, सीता को लौटाकर राम से क्षमा याचना करो अन्यथा, यदि युद्ध हुआ तो उसका परिणाम तुम्हारे लिए शुभ न होगा।—

सुलभा पुरुषा राजन्, सतत प्रिय वादिन।
अप्रियस्यतु पथ्यस्य, वक्ता, श्रोता च दुर्लभा॥

'राजन्! संसार में मीठा बोलनेवाले पुरुषों की कमी नहीं है। परन्तु हितकारी समझकर कडवा बोलनेवाले वक्ता और उसे सुननेवाले श्रोता दुर्लभ हैं।' विभीषण की बातों पर रावण को आवेश आगया और उसने विभीषण की कमर में एक लात भी जड दी। अपमानित होकर विभीषण राम से आ मिला।

विभीषण के आने का समाचार पाकर स्वागत करते हुए राम ने कहा—'पधारो लंकेश!' लंकेश के सम्बोधन ने विभीषण को राम का बेदाम गुलाम बना दिया और राम ने भी अपने लंकेश को वास्तव में लंकेश बनाकर दिखा दिया।

भारत और लंका के मध्य पुल बाँधने की व्यवस्था होने लगी। सब वानर-सेना जुट गई। राज-

शिल्पी नील के निरीक्षण में पाँच दिन में पुल तैयार होगया।१८

अब राम सेना सहित सागर लाँघकर लंका किनारे पहुँचे, तो सेना के चार भाग करके उसे लंका के चारो ओर नियुक्त कर दिया। राम ने युद्ध को टालने का अपनी ओर से एक और उपाय किया। अंगद को शान्ति-दूत

१८ इन्टरनेशनल जियाग्रॉफ़ी पृ० २०४ पर मिल साहेब लिखते हैं—'लंका और भारत के बीच मनार - नामक खाड़ी है। परन्तु मनार तथा रामेश्वर नाम टापुओं तथा मूँगेवाली चट्टानों (जिन्हें आदम का पुल भी कहते हैं) के बीच में होने से लंका प्रायः भारत के साथ जुटा हुआ है। उक्त मूँगेवाली चट्टानों के बीच कहीं भी इतना जल नहीं है, जिससे कोई बड़ा जहाज़ निकल सके। लंका को रेलवे-लाइन द्वारा भारत के साथ जोड़ने के लिये पैमाइश हुई है। जिसके अनुसार पैंतीस मील रेलवे - लाइन मनार तथा रामेश्वर टापुओं पर, बाइस मील मूँगेवाली चट्टानों पर केवल एक मील लाइन मनार की खाड़ी पर, जिसमें जल बहुत कम रहता है अर्थात् कुल ५८ मील रेलवे लाइन बननेवाली है। इस समय जब कि लोग लंका और भारत के मध्य रेलवे - लाइन बनाने को सोच रहे हैं तो राम ने पुल बनवा दिया हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? आजकल लंका और भारत के मध्य जो पथरीला भाग आदम के पुल के नाम से प्रसिद्ध है, उसे राम के पुल का भाग कहने में हम कभी भी हिचक नहीं सकते।

बनाकर रावण की सभा मे भेजा गया। इस यत्न के विफल होने पर युद्ध आरम्भ होगया।

बारह दिन तक घोर युद्ध होता रहा। रावण के प्रमुख योद्धा लड़ाई में काम आये। अन्त में रावण भी लड़ता हुआ राम के हाथो मारा गया। विजय श्री ने राम के चरण चूमे। विभीषण को यथार्थ लंकेश पद पर अभिषिक्त किया गया। रामाज्ञा से हनुमानजी सीता को विजय का सुसमाचार सुना आये। पुन महाराजा विभीषण सीता को पालकी मे सवार कराकर राम के सन्मुख लाये। चिर-काल से वियोगानल मे जलनेवाले दो दिलो ने परस्पर मिलकर सन्तोष का साँस लिया। सीता को बीच मे पाकर वीरों का विजयोल्लास कई गुना बढ गया।

वनवास के चौदह वर्ष पूर्ण होने मे भी अब एक-दो दिन ही शेष थे। राम ने शीघ्र अयोध्या पहुँचने की इच्छा प्रकट की। महाराज विभीषण ने अपना पुष्पक - विमान उपस्थित कर दिया। राम की ओर से विभीषण ने वीर सैनिकों को द्रव्य प्रदान-द्वारा सत्कृत करके विसर्जित किया। जब राम ने विदा माँगी तो विभीषण, हनुमान, सुग्रीव, अगद तथा अन्यान्य वीरों ने कहा, 'हम भी माता कौशल्या को प्रणाम करने तथा आपका राज्याभिषेक उत्सव देखने के लिए साथ ही चलना चाहते हैं। सब के विमानारूढ होने पर—

अनुज्ञात तु रामेण, तद्विमानमनुत्तमम् ।
हंस युक्त महानाद, उत्पपात विहायसम् ॥

राम की आज्ञा से वह उत्तम तथा हंसाकार विमान चढ़ा और आकाश मे उडता हुआ भारी शब्द करने लगा।

राम प्रयाग पहुँचकर महर्षि भारद्वाज के आश्रम में ठहरे और वहाँ से हनुमान को कई प्रकार की शिक्षा देकर भरत के पास भेज दिया। हनुमान गुह को रामागमन का समाचार देकर अयोध्या के निकट नन्दी ग्राम मे भरत क पास पहुँचा और बोला—'हे देव ! जिनको चिन्ता करते हुए आप जटा चीर धारण कर रहे हैं, वह श्री राम दण्ड कारण्य से सकुशल आरहे हैं।'

इन वचनो को सुनकर भरत को बड़ा आनन्द हुआ। पहिले तो वह हर्षातिरेक के कारण मूर्छित होगये। फिर हनुमान को गले लगाकर आँसू बहाने लगे। पुन रामादि के विशेष समाचार ज्ञात किये। शत्रुघ्न को शीघ्र अयोध्या जाकर स्वागत का यथोचित प्रबन्ध करने का आदेश दिया। रामागमन के समाचार सुनते ही अयोध्यावासी आनन्दित होगए। कौशल्या आदि माताएँ, सुमन्त आदि मन्त्री और पुरवासी नन्दी ग्राम में पहुँच गए। घर घर करता विमान नीचे उतरा।

राम के विमान से बाहिर आते ही भरत ने चरण स्पर्श किये। राम ने भरत को छाती से लगाकर गाढ़ा

ंगन किया। पुन भरत ने प्रणाम करते हुए लक्ष्मण को ाती से लगा, सीता को प्रणाम किया। राम अनेक श्रेष्ठों ो प्रणाम कर, नगरवासियों के सन्मुख आए। सब ने स्वागत ते महाराहो' की तुमुल ध्वनि गुंजाकर राम का ्वागत किया। भरत ने चित्रकूट से लाई हुइ खड़ावें राम ो पहना दीं और कहा—'आज मेरा जन्म सफल हुआ ;। आप अपने कोष आदि को चलकर देखें। आपक ताप से हमने उसे दस-गुणा कर दिया है। मेरी पूज्या ाता ने जो राज्य मुझे दिलाया था, वह मै पुन. आपको देता हूँ। मेरी और प्रजा की प्रार्थना को स्वीकार करके राज्य-भार को ग्रहण कीजिये।

राम ने भरत की प्रार्थना स्वीकार की। सब नन्दी ग्राम से अयोध्या पहुँचे। राम का विधिवत् राजतिलक-समा-रम्भ पूर्ण हुआ। तदन्तर राम ने लंका और किष्किन्धा के मित्रो को रत्नो और आभूषणों से सत्कृत कर, विदा किया और स्वय अयोध्या मे रहकर अवध का शासन करने लगे। अपनी अपूर्व योग्यता और सुप्रबन्ध से राम अपनी प्रजा के सम्राट् से बढकर, हृदयेश्वर भी बन गये और आज भी वे हमारे हृदयेश्वर हैं।

'मानव-धर्म'-आन्दोलन-द्वारा पुन राम-राज्य का मार्ग प्रशस्त हो रहा है।



कृष्ण

'संसार के इतिहास में कौन सी जाति है जिसने विशेष ईश्वर भक्तों और कर्मवीरों पर स्वयं ईश्वरत्व की मोहर नहीं लगाई और किन को ईश्वरत्व की श्रेणी में नहीं रखा ?'

—पंजाब केसरी लाला लाजपतराय

मनुष्य, स्वभाव से ही मनुष्य पूजक है। छोटा बड़े के प्रति, अविद्वान् विद्वान् के प्रति, अल्पज्ञ विशेषज्ञ के प्रति इसी भाव से प्रेरित होकर अनुरक्त हो जाया करता है। यही गुरु शिष्य प्रणाली का मूलाधार है। एक छोटा सा समुदाय ऐसे लोगों का भी है जो मनुष्य पूजा का विरोधी है, परन्तु चिल्लाने से क्या होता है? वास्तव में तो मनुष्य पूजा के दोष से कोई भी मुक्त नहीं हो सकता। मेरी राय मे तो उचित सीमा मे रहकर मनुष्य पूजा करना, मनुष्य के आवश्यक कर्तव्यों मे से एक है। अपने भावी मंगल विधान के लिये सबको वीर पूजा का अनुष्ठान करना ही चाहिये और करना ही होगा।

भारतवर्ष में विशेष उच्चकोटि के महापुरुषों को आर-

रार्थ अवतार कहा जाता है। फिर इन अवतारों की भी मर्यादा है। किसी की गणना चार कला के अवतारो मे है, किसी की आठ वा बारह कला के अवतारो मे किसी-किसी की गणना सम्पूर्ण कला सम्पन्न * (सोलह कला पूर्ण) अवतारो मे भी होती है। मानव धर्म के योग्यतम प्रचारक भगवान श्री कृष्ण सोलह कला सम्पन्न अवतार प्रसिद्ध हैं।

इससे पूर्व कि मैं श्री कृष्ण की जीवन लीला का उल्लेख करूँ, यहाँ अवतारवाद और श्री कृष्ण चरित्र बोध के लिये प्राप्त सामग्री का थोड़ा सा उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। भगवान श्री कृष्ण ने स्वयमेव गीता मे अवतार-वाद का रहस्योद्घाटन किया है—

यदा यदाहि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

हे अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने-आपको रचता हूँ।

---

* सोलह कलायें इस प्रकार हैं—

(१) प्राण (२) श्रद्धा (३) आकाश (४) वायु (५) अग्नि (६) जल (७) पृथ्वी (८) इन्द्रियाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। (९) मन (१०) अन्न (११) वीर्य (१२) तप (१३) मन्त्र (१४) कर्म (१५) नाम (१६) रूप।

देखो प्रश्न—उपनिषद् छठा प्रश्न।

परित्राणाय साधूना, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म सस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे ॥

'साधुओं की रक्षा और दुष्टों का नाश करने के लिए और धर्म की सस्थापनार्थ में प्रत्येक युग में जन्म लिया करता हूँ।'

कोई-कोई मतवाले इन श्लोको से ईश्वर के जन्म-ग्रहण की कल्पना किया करते हैं। यह अनुचित है। अवतारवाद का तत्व यही है कि किसी किसी मनुष्य का प्रभु-ध्यान बहुत गहरा हो जाता है। वह अपने में स्तुति, प्रार्थना और उपासना द्वारा ईश्वरीय गुणो को आश्चर्य उत्पादक मात्रा में धारण कर लेता है। उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी परमात्मा के समान दूसरो के अनुग्रह के लिए होने लगते हैं। ऐसी ही महान् आत्माओं को प्रभु की अटल व्यवस्थानुसार स्वेच्छा से जन्म ग्रहण और मृत्यु का अधिकार भी प्राप्त रहता है। 'मानव धर्म' के सब प्रचारक इसी प्रकार के महापुरुष और अवतार थे, तथा हैं।

पुन जब कवियो और लेखकों ने उनके चरित्र चित्रण में अतिशयोक्तिपूर्ण अलकारिक भाषा का प्रयोग किया तो पौराणिक काल मे अतिशयोक्ति और अलकारों को वास्तविकता का जामा पहिना दिया गया। महापुरुषों के चरित्र ऐसे साँचे मे ढाले गए कि अन्य जातिवाले उन्हें मिथ्या, कपटी और अपवित्र भी, समझने लगे।

अति प्रेम, उच्छृङ्खलता, मानसिक विचारों की चंचलता, उमंग और आत्म-विश्वास की निर्बलता-वश कवियों और लेखकों ने जो अपमान और अन्याय श्रीकृष्ण के साथ किया है, उसका उदाहरण किसी दूसरी भाषा व जाति में प्राप्य नहीं है। महाभारत-कालीन, गीता के उपदेश श्रीकृष्ण और दूसरा भागवत-आदि के पौराणिक कृष्ण को कुछ लोग भिन्न मानते हैं। कतिपय विद्वानों ने कृष्ण की कहानी को सर्वथा काल्पनिक ठहराने का दुस्साहस किया है। मैं इन अटकल-पच्चू बातों से सहमत नहीं हूँ। पुष्ट प्रमाणों के आधार पर मेरा मन्तव्य है, श्रीकृष्ण उच्च-कोटि के मानव धर्मोपदेशक व ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनके आदर्श और पवित्र चरित्र का विशद् वर्णन् महाभारत में पाया जाता है। श्रीमद्भागवत-आदि पुराणों में भी उसी एक महापुरुष का अतिशयोक्तिपूर्ण और अलंकारिक वर्णन् है। और यदि पौराणिक आख्यानों को अतिशयोक्ति न माना जाये, और अलंकारिक न समझा जाये तो ऐसी अवस्था में भी श्रीकृष्ण के चरित्र पर जो दोषारोपण होते हैं, मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। मैं उनमें एक ही मूल सत्य को निहित पाता हूँ और वह यह कि शारीरिक और मानसिक दुर्बलताओं से श्रीकृष्ण ऊपर उठ गये थे।

पाठक इतने से ही समझ गये होंगे कि कृष्ण के सत्य सत्य क्रम बद्ध जीवन-चरित्र को लिखना, मानो कवियों के अलंकारिक आख्यानों, भक्तों के अन्ध-विश्वासपूर्ण किस्सों

और धूर्तों के फैलाये हुए भ्रम-जाल में ढूँढ निकालने के समान है।

श्रीकृष्णजी आदर्श प्रेमी, आदर्श वीर, महान् राजनीतिज्ञ, तत्व-दर्शी और उच्च कोटि के धार्मिक महापुरुष थे। उनका जन्म ऐसे काल में हुआ, जब कि धर्म का यथोचित स्थान से अध पतन हो चुका था। मिथ्या वैराग्य और शुष्क नास्तिकवाद का पलड़ा भारी था। मानवी त्रुटियाँ उग्र रूप में प्रकट हो रही थीं। अनुचित लाभ उठाने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ चुकी थी। ऐसी परिस्थिति का डटकर सामना करना और उसे मर्यादित करने में सफल होना श्रीकृष्ण-जैसे महापुरुषों का ही कार्य है। तभी तो उन्हें सोलह कला पूर्ण अवतार कहा गया है और आज भी भारतीय सभ्यता पर श्रीकृष्ण के उपदेशों की छाप स्पष्ट दृष्टि गोचर होती है। भारतीय गगन मण्डल श्रीकृष्ण के पवित्र और दिव्य धर्मोपदेशों से ओत प्रोत एवं प्रकाशमय होरहा है।

राजाओं की दिव्य सत्ता (Divinity of Kings) के सिद्धान्त में श्रीकृष्ण का विश्वास न था। उन्होंने स्वयं कंस का वध किया। जरासन्ध को भीमसेन से मरवा डाला। शिशुपाल सुदर्शन चक्र के एक ही वार से खेत रहा। जन हित के आगे उनके लिये कुछ भी अकर्तव्य न था। सफलता पाना उनका उच्च लक्ष्य था। साधनों की पवित्रता

या अपवित्रता के विवाद में वे कभी पड़ते ही न थे, क्योंकि उनका मन्त्र था कि ध्येय पवित्र रहने पर साधनों की अपवित्रता भी पवित्र है।

जीवन मे प्राय सभी के सामने 'यह करूँ या वह करूँ' की विकट समस्या आकर खड़ी हुआ करती है। कितने हैं, जो ऐसे अवसर पर ठीक-ठीक निश्चय करने में समर्थ होते हैं? श्रीकृष्णजी उनमें से एक थे। ऐसे अवसरों के लिए ही गीता मे कहा है—'जो कर्म में अकर्म देखते हैं, वे बुद्धिमान नर-श्रेष्ठ हैं। उनके लिए कुछ भी असाध्य नहीं।'

उनकी नीतिमत्ता, विद्वत्ता, युद्ध चातुर्य, कार्य कुशलता, तन, मन, धन—सर्वस्व—धर्म और निर्बलों की रक्षा के लिए था। व्यक्तिगत स्वार्थ उन्हें छू तक न गये थे। कंस का सिर काटा और राज-मुकुट उठाकर उसके पिता उग्रसेन के सिर पर जा रखा। यह थी कृष्ण की 'कुशलता'। एक अत्याचारी को ठिकाने भी लगा दिया और फिर वृष्णी-कुल को गृह कलह से भी बचा लिया। सचमुच कृष्ण की महानता का कोई पारावार नहीं है।

महाभारत युद्ध के १६ वर्ष बाद तक वे जीवित रहे। उन्होंने भारत को जरासन्ध के अत्याचार युक्त, एक-सत्तात्मक साम्राज्य (Empire) से निकाल कर, युधिष्ठिर आदम नर्णय-मूलक मनुष्य-साम्राज्य (Commonwe

alth) के सूत्र में संगठित किया और उन्होंने अपने मनुष्य-साम्राज्य को फलते-फूलते भी देखा। यही उनकी वह दिव्य विभूति थी, जिसके आगे धर्मराज युधिष्ठिर और उसे अगवा बनाकर समस्त भारत नत मस्तक हुआ था और अब तक है।

'मातृ भूमि, मातृ सभ्यता, मातृ भाषा, आत्म रक्षा और अधिकार-प्राप्ति के लिए आवश्यक होने पर शस्त्र उठाना प्रत्येक मनुष्य का श्रेष्ठ कर्तव्य है।' उन्होंने यह कोरा उपदेश ही नहीं दिया, अपितु कई दुष्टों को अपने हाथों से यमपुर पहुँचाकर और घबराये हुए अर्जुन के हाथों में अस्त्र थमाकर, इस विषय में होनेवाले सन्देह मात्र का मूलोच्छेद कर दिया।

कोई अत्याचारी अपने धन बल, जन बल, छल बल, कल-बल-आदि बल प्रयोग-द्वारा हमारी मान मर्यादा को मिट्टी में मिला दे, हमारे सर्वस्व का अपहरण कर ले, इस नश्वर देह को जंजीरों में जकड़ ले, जेल में सड़ा—[illegible] कुत्तों को खिला दे, घोर पाप कर्म में प्रवृत्त करा वह हमारे मन-मन्दिर पर अधिकार प्राप्त न न कर सकेगा। कृष्ण-सा कोई योगेश्वर ही दुनियाँ पर हकूमत कर सकता है।

संजय ने कहा था —

'जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण है, जहाँ धनु

या अपवित्रता के विवाद में वे कभी पड़ते ही न थे, क्योंकि उनका मन्त्र था कि ध्येय पवित्र रहने पर साधनो की अपवित्रता भी पवित्र है।

जीवन मे प्राय सभी के सामने 'यह करूँ या वह करूँ' की विकट समस्या आकर खड़ी हुआ करती है। कितने हैं, जो ऐसे अवसर पर ठीक-ठीक निश्चय करने में समर्थ होते हैं? श्रीकृष्णजी उनमें से एक थे। ऐसे अवसरो के लिए ही गीता मे कहा है—'जो कर्म में अकर्म देखते हैं, वे बुद्धिमान् नर-श्रेष्ठ हैं। उनके लिए कुछ भी असाध्य नहीं।'

उनकी नीतिमत्ता, विद्वत्ता, युद्ध चातुर्य, कार्य कुशलता; तन, मन, धन—सर्वस्व—धर्म और निर्बलो की रक्षा के लिए था। व्यक्तिगत स्वार्थ उन्हें छू तक न गये थे। कंस का सिर काटा और राज मुकुट उठाकर उसके पिता उग्रसेन के सिर पर जा रक्खा। यह थी कृष्ण की 'कुशलता'। एक अत्याचारी को ठिकाने भी लगा दिया और फिर वृष्णी-कुल को गृह-कलह मे भी बचा लिया। सचमुच कृष्ण की महानता का कोई पारावार नहीं है।

महाभारत-युद्ध के १६ वर्ष बाद तक वे जीवित रहे। उन्होने भारत को जरासन्ध के अत्याचार युक्त, एक सत्तात्मक साम्राज्य (Empire) मे निकालकर, युधिष्ठिर के आत्म नर्णय-मूलक मनुष्य साम्राज्य (Commonwe

उधर गोकुल में गोप, नन्द और यशोदा के घर श्रीकृष्ण का लालन पालन होने लगा। बलरामजी तो पहिले ही वहाँ पहुँच चुके थे। वहीं दोनो भाइयों ने ग्वाल, बाल और गोप कन्याओं में ही खेल कूदकर बाल्य काल व्यतीत किया। श्रीकृष्ण के बाल्य काल की अनेक मनोरंजक कथाओं का पुराणों में उल्लेख हुआ है।

एक बार यशोदा कृष्ण को छकड़े के नीचे सुलाकर किसी कार्यवश घर से बाहिर गई थी। पीछे कृष्णजी जगे और माँ को न पाकर रोने तथा जोर-जोर से लात फेंकने लगे। लात के जोर से वह छकड़ा उलट गया।* छकड़े पर रखा हुआ नन्द का सब सामान टूट फूटकर नष्ट हो गया। परन्तु कृष्ण को कुछ भी चोट न लगी। जब नन्द और यशोदा आये तो बहुत चकित हुए।

एक बार कृष्ण पड़ौसियो का मक्खन चुराकर खारहे थे। ग्वालनो ने मुँह हाथ सने पकड़ लिया और आकर यशोदा से शिकायत करने लगे। भोला बनकर कृष्ण ने कहा—"इन्होंने जबरदस्ती करके मेरे हाथ और मुँह पर मक्खन लपेट दिया है, मैंने इनका मक्खन नहीं खाया।" यह सुनकर सब खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

कृष्ण अपनी बाल्यावस्था में बड़े चचल और उधमी

* छकड़े का लात से तो नहीं, पर किसी अन्य ... उलट जाना और बालक का सुरक्षित बच जाना सभव ...

देवकी गर्भवती हुई तो उसने देवकी को बन्दी घर में रख-कर उस पर कड़ा पहरा बैठा दिया। कस ने इस बार बालक के वध के लिए जैसा उत्तम प्रबन्ध किया था, दूसरी ओर उसकी रक्षा के लिए भी उतना ही उत्तम प्रबन्ध किया गया था। अन्त में वसुदेव और उनके मित्र बालक की रक्षा करने मे सफल हो ही गये। जिस रात्रि में कृष्ण का जन्म हुआ, उसी रात में बालक को राजमहल से निकाल कर गोकुल मे नन्द के घर पहुँचा दिया गया और वहाँ से नन्द की नवजात बालिका को लाकर देवकी के पास लिटा दिया गया। इस प्रकार भादों-कृष्ण अष्टमी को श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। विद्वानों ने कृष्ण का समय ईसा मे तीन हजार वर्ष पूर्व निश्चित किया है।

जब कस को प्रसूति का पता चला तो वह तत्काल उठा और सौरि गृह मे चला गया और उस दुष्ट ने विलाप करती हुई देवकी के पास से कन्या को छीनकर शिला पर पटक दिया। लडकी को मारकर ही बस नहीं किया, सब यादव वशी-बालको के वध की आज्ञा देदी। *ढूँढ ढूँढकर राजकुमार मारे गये। बहुतेरे भाई-बन्धु देश छोड गये। बहुत दिन तक यह हत्या-काण्ड जारी रहा।

---

* ईसा के जन्म के विषय मे भी ऐसा प्रसिद्ध है कि उस समय के शासक हिरो ने भी अपनी मृत्यु के भय से कस के समान ही बालकों का वध कराया था।

रुक्म उसका विवाह चेदी-नरेश शिशुपाल से करना चाहता था। रुक्म ने कृष्ण का मार्ग रोका, परन्तु पराजित हो गया। समीप था कि वह कृष्ण के हाथों मारा जाये, परन्तु रुक्मिणी ने प्रार्थना करके अपने भाई की जान बचाई। रुक्मिणी पुत्र प्रद्युम्न महाभारत में प्रसिद्ध है।

पुराणों में कृष्ण के बहु-विवाह का उल्लेख पाया जाता है। यह कहना कठिन है कि वास्तव में कृष्ण की स्त्रियों की सख्या क्या थी। इतना निश्चित है कि रुक्मिणी पटरानी थी। महाभारत और पुराणों में श्रीकृष्ण के बल-पराक्रम और महत्व सूचक अनेक कथाओं और युद्धों का उल्लेख है। उनके विस्तार में न जाकर मैं केवल महाभारत सम्बन्धी कुछ घटनाओं का सक्षिप्त उल्लेख अगले पृष्ठों में कर सकूँगा।

पाण्डवों की माता कुन्ती वसुदेव की बहिन और श्री-कृष्ण की फूफी थी। पाण्डवों से श्रीकृष्ण की मित्रता पाञ्चाल-पति महाराजा द्रुपद की राजकुमारी द्रौपदी के स्वयम्बर से आरम्भ हुई समझनी चाहिये। जिस समय ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन ने स्वयम्बर की शर्त को पूरा कर दिया, द्रौपदी ने आगे बढ़कर जयमाला उसके गले मे पहिना दी। यह देख, सारी सभा मे कोलाहल मच गया। उपस्थित राजे महाराजे चिल्लाने लगे—'ब्राह्मण से विवाह नहीं कर सकता।' दोनों ओर से

को आदेश पालन का साहस न हुआ। कंस हैरान था कि क्या करे ? इतने में कृष्ण शेर के समान कूदकर कंस के पास पहुँचा और केश पकड़कर उसे जमीन पर दे मारा। थोड़ी देर के संघर्ष के पश्चात् कृष्ण ने कंस का प्राणान्त कर दिया। किसी ने भी कंस को बचाने का यत्न नहीं किया। कंस का भाई समाली सहायता को बढ़ा था, बलराम ने उसकी भी मिट्टी ठिकाने लगा दी।

इसके पश्चात् दोनों भाइयों ने वसुदेव और देवकी की चरण वन्दना की। एक ओर कंस का मातम किया जा रहा था और दूसरी ओर वसुदेव देवकी अपने जिगर के टुकड़ों को छाती से लगाकर आनन्द विभोर हो रहे थे। यादव वंश के सरदारों ने कृष्ण से राज कार्य सम्भालने का अनुरोध किया, परन्तु कृष्ण ने इसे अस्वीकार कर दिया और कंस के पिता उग्रसेनजी को पुनः राजपद पर अभिषिक्त कर दिया।* और दोनों भाई विद्या लाभ के लिये गुरु सदीपन के पास काशी जाकर रहने लगे। कृष्ण-सुदामा की मित्रता का आरम्भ भी उसी समय में हुआ था।

कृष्ण का विवाह बरार के राजा भीष्मक की रूपवती पुत्री रुक्मिणी से हुआ था, जिसे रुक्मिणी का सन्देश पाकर श्री कृष्णजी बलात उठा लाये थे। रुक्मिणी का भाई

* कंस ने अन्यायपूर्वक उग्रसेनजी से शासन अधिकार छीन लिया था।

हस्तिनापुर से भी बढ गई और दूर दूर तक फैल गई। इस कार्य को पूर्ण कर, श्रीकृष्ण द्वारिका जाकर रहने लगे। महाराजा द्रुपद और यदुवशी वीर पाडवो की पीठ पर थे। स्वय पाडव भी अद्वितीय वीर थे। बडे बडे योद्धा पाडवो से भय खाने लगे।

अब युधिष्ठिर ने राजसूय-यज्ञ करने की ठानी। श्रीकृष्ण से अनुमति ली गई तो बोले—'केवल वही मनुष्य राजसूय यज्ञ कर सकता है, जो राजाओं का राजा हो और चक्रवर्ती कहलाता हो।' इससे पूर्व श्रीकृष्ण कई राजाओ का निरोध कर चुके थे, परन्तु मगध का राजा जरासन्ध, जो कि बहुत स्वेच्छाचारी, क्रूर और वीर था, किसी प्रकार क़ाबू मे न आता था। और भी अनेक दिशाओं में शक्ति बिखरी पडी थी। श्रीकृष्णजी ने शक्ति के केन्द्रीयकरण के लिये राजसूय-यज्ञ के अवसर को उपयुक्त समझा। युधिष्ठिर कुछ हतोत्साह होने लगा तो श्री कृष्ण ने उसे उत्साहित करके दिग्विजय की योजना बनाई और क्रियान्वित भी करा दी।

युधिष्ठिर से अनुमति लेकर श्रीकृष्ण, अर्जुन और भी सहित स्नातकों के वेश में जरासन्ध के पास पहुँचे। जरासन्ध पहिली नजर मे ही ब्राह्मण स्नातकों के छद्म-वेश को ताड़ गया। उसे उनके अग अग में क्षत्रियत्व की झलक मिली। परन्तु उसने चतुराई से अपना भाव

परिणय-भूमि युद्ध-क्षेत्र के रूप मे परिवर्तित हो गई। अर्जुन और भीम ने खूब रण-कौशल दिखाया। इस समय तक पाण्डव दुर्योधन के लाक्षा-गृह के षड्यन्त्र से तो जान बचाकर भाग निकले थे, परन्तु भविष्य के विषय मे चिन्ता-मुक्त न हो सके थे और गुप्त रूप से ब्राह्मण-वेश मे रह रहे थे। श्रीकृष्ण ने उन्हें पहिचान लिया और बीच में पड़कर निर्णय कर दिया कि इस ब्राह्मण ने नियमानुसार स्वयम्वर जीता है, द्रौपदी इसकी हो चुकी। कृष्ण के आगे विरोधियो को चुप होना पड़ा। इस समय से श्रीकृष्ण और पाण्डवों की घनिष्ठता उत्तरोत्तर बढती ही गई। अर्जुन पर तो वे ऐसे मुग्ध हुए कि बड़े भाई बलरामजी के विरुद्ध होने पर भी उन्होने अपनी बहिन सुभद्रा का विवाह अर्जुन से करा दिया। अर्जुन पुत्र वीर अभिमन्यु का जन्म सुभद्रा की कूख से ही हुआ था।

अर्जुन के द्रौपदी-स्वयम्वर-विजय का सवाद पाकर धृतराष्ट्र ने विदुरजी को भेजकर पाण्डवों को द्रौपदी-सहित हस्तिनापुर बुला लिया और अपने पुत्रो को शान्त करने के लिये पाण्डवो को राज्य बाँट दिया। पाण्डवो को खाण्डवप्रस्थ का बन देकर आबाद करने को कहा गया, जिसमे पाण्डवों ने श्रीकृष्ण के सहयोग से इन्द्रप्रस्थ (वर्तमान देहली) शहर आबाद किया। थोडे समय में ही पाडवो के इस नूतन राज्य की प्रसिद्धि और शोभा

दैवी कारणों से ही होता है। वह तो असख्य दुर्घटनाओं की प्रतिक्रिया मात्र है। युद्ध रुकता कभी नहीं, होकर ही रहता है, परन्तु फिर भी श्रीकृष्ण ने वह सब कुछ किया था, जोकि युद्ध को रोकने के लिये किया जा सकता था। श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर धृतराष्ट्र और दुर्योधन के पास गये और विफल मनोरथ लौटे, परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि वास्तव में वे सफल होकर आये थे। वे युद्ध रोकने का उपाय करने तो गये ही थे। पर इससे भी बढ़कर वे *पाण्डवों की नैतिक स्थिति मजबूत करने गये थे।* दुर्योधन और उसके साथियों के तले से नैतिक आधार खिसकाने गये थे। शत्रु पक्ष में फूट डालने और पाण्डवों की विजय की पूर्व-भूमि तैयार करने गये थे। वापस लौटते समय माता कुन्ती ने सामने आकर कहा—

"युधिष्ठिर को सन्देश देना कि यह समय दया का नहीं, सब कालों में अहिंसा क्षत्रिय का धर्म नहीं, तू राजा है। राजा काल का कारण है। वह जैसा चाहे, समय को ढाल सकता है। उसका बाहु-बल पीड़ितों की रक्षा करने के लिये है, स्वयं दीन बनकर भिक्षा माँगने के लिये नहीं। और तो और, इतना ही देख ले कि १३ वर्ष से मैं दूसरों के टुकड़ों पर जी रही हूँ, यह वृत्ति कृपणता की है। तुझे जन्म देकर इस अवस्था में रहूँ? तू क्षत्रिय है, लड़। बाप दादा की आन को डुबो मत। अर्जुन पुत्र से

सामना करे। श्रीकृष्ण अभी तक चुप थे। रण निमन्त्रण पाते ही सामने आ गये। सुदर्शन-चक्र के एक ही वार से शिशुपाल का सिर भुट्टा-सा दूर जा पडा।

फिर यज्ञ मे कोई विघ्न न पड़ा। यज्ञ पूर्ण होने पर श्रीकृष्ण द्वारिका चले गये।

दुर्योधन और उसके कर्ण प्रभृति साथियों ने युधिष्ठिर के अतुल प्रताप को देखा तो द्वेषाग्नि मे जलने और युधिष्ठिर के प्रभुत्व को नष्ट करने के उपाय करने लगे। अन्त में अपना धन, वैभव, तन, भ्रातृगण और सर्व-सम्मान भी जुए को भेंट चढाकर पाँचो पाण्डव और देवी द्रौपदी बारह वर्ष तक बनो की खाक छानते फिरे। एक वर्ष गुप्त रहकर विराट के महलो मे दास वृत्ति ग्रहण करके रहे। धृतराष्ट्र और दुर्योधन से पुनरपि अधिकार प्राप्त करने के पाण्डवो ने जितने उपाय किये, वे एक-एक करके सभी विफल होते गए। एक ही उपाय अब शेष था—युद्ध। दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ होने लगी।

कुछ लोग महाभारत के युद्ध को कराने का दोष श्रीकृष्ण के मत्थे मढा करते हैं। न जाने क्यों? और कैसे? वे उन सब प्रयत्नों की उपेक्षा कर जाते हैं, जोकि युद्ध की बला को टालने के लिये श्रीकृष्ण ने किये थे और महाभारत में जिनका विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है।

यह भी भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि युद्ध तो

अश्वत्थामा। श्रीकृष्ण ने कहा—'जब द्रोणाचार्यजी लड़ रहे हों तो कोई उन्हें सुना दे कि "अश्वत्थामा मर गया है"। अर्जुन ने तो नहीं, पर भीम ने इस युक्ति को खूब पसन्द किया और तुरन्त जाकर अश्वत्थामा-नामक हाथी का वध कर दिया। पाण्डव-दल में कोलाहल मच गया—'अश्वत्थामा मारा गया! अश्वत्थामा मारा गया!' द्रोण ने सुना तो कहा—'युधिष्ठिर आकर कहेगा तो मैं अश्वत्थामा की मौत को सही मानूँगा।' श्रीकृष्ण ने युक्ति से युधिष्ठिर से भी कहला दिया,—

'अश्वत्थामाहत, नरो वा कुञ्जरो वा।'

'अश्वत्थामा मारा गया, आदमी या हाथी' 'मारा गया' कहने के साथ ही शेष शब्द पूर्व आयोजित प्रबन्ध के अनुसार बाजे गाजे और शोर-शराबे में लीन होकर रह गये। चाल चल गई। द्रोण के हाथो ने शस्त्र उठाने से इन्कार कर दिया। वह ध्यानावस्थित होकर रथ मे बैठ रहे। धृष्टद्युम्न तलवार लेकर लपका। अर्जुन ने रोकना चाहा, परन्तु गुरु का काम इसके पूर्व ही तमाम हो गया। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया—"आचार्य द्रोण ने ही पाप युद्ध आरम्भ किया था, जबकि सात महारथियों ने मिलकर अभिमन्यु का वध किया था।"

अर्जुन को चुप होना पड़ा।

इसी प्रकार कर्ण से युद्ध करते करते जब कर्ण के रथ

"सब दुविधाओ को छोडकर तू मेरा कहा मान। मैं तुझे सब पापो से बचाऊँगा। चिन्ता न कर।"

और अन्त मे अर्जुन ने कहा था —

नष्टो मोह,स्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रासादात् मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गत सन्देह, करिष्ये वचन तव॥

"मेरा मोह जाता रहा, सद्गुरु! आपकी कृपा से मेरा होश ठिकाने आगया है। सब सन्देह भी नष्ट होगये। मैं आपके आदेश पालन के लिए प्रस्तुत हूँ।"

अठारह दिन तक महाभारत का युद्ध होता रहा। पहिले दस दिन तक भीष्म पितामह कौरव दल के सेनापति रहे। तीसरे और नवें दिन उन्होने विशेष पराक्रम दिखाया। अर्जुन को उनके साम्मुख्य के लिये कृष्ण और युधिष्ठिर दोनो ने ही बहुत उत्साहित किया। परन्तु अर्जुन कृत कार्य न हो सका। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के स्थान पर शिखण्डी को पितामह के सामने किया। वह पाण्डव-दल का मुख्य योद्धा था। अर्जुन भी उसकी सहायता पर रहा। आखिर वृद्ध पितामह अशक्त होकर गिर पड़ा।

अगले दिन द्रोणाचार्यजी कौरव दल के सेनापति बने। वे पाँच दिन तक युद्ध करते रहे। पाण्डव दल के बहुत से योद्धा उनके हाथो मारे गये। अन्त में श्रीकृष्ण की चतुराई काम आई और द्रोणाचार्यजी भी पचतत्व को प्राप्त हुए। द्रोणाचार्य के पुत्र का नाम था,'

बुद्ध

चीन, जापान तथा लङ्का के अधिवासी उस लोक गुरु बुद्ध की शिक्षा के प्रतिपादक हैं, परन्तु हिन्दू लोग उसे ईश्वर का अवतार मानते हैं।

—विवेकानन्द

प्राचीन समय की बात है। अयोध्या में इक्ष्वाकुनरावतंश महाराजा सुजात राज्य करते थे। उसकी पटरानी से पाँच पुत्र तथा पाँच पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। बुढापे में राजा ने जयन्ती-नामक स्त्री से विवाह कर लिया। उससे भी एक जयन्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जयन्ती ने एक बार राजा को प्रसन्न करके और अनुकूल जानकर अपने पुत्र जयन्त के लिए राज्य और पटरानी की सन्तान के लिए वनवास का प्रस्ताव किया। कामोन्मत्त राजा ने इसे स्वीकार कर लिया। पटरानी के पाँच पुत्र और पाँचों पुत्रियाँ पिता के आदेश से वन में जाकर रहने लगे। वे वनों मे अनेक स्थानों पर विचरते हुए हिमालय के शाकोट वन में महर्षि कपिल के आश्रम में पहुँचे। कपिलजी ने उनका यथोचित आदर सत्कार किया और उन्हें अपने आश्रम मे ठहराया। महर्षि के आदेशानुसार उन लोगों ने आश्रम के

बुद्ध

चीन, जापान तथा लङ्का के अधिवासी उस लोक गुरु बुद्ध की शिक्षा के प्रतिपालक हैं, परन्तु हिन्दू लोग उसे ईश्वर का अवतार मानते हैं। —विवेकानन्द

प्राचीन समय की बात है। अयोध्या में इक्ष्वाकुवंशावतंश महाराजा सुजात राज्य करते थे। उनकी पटरानी से पाँच पुत्र तथा पाँच पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। बुढ़ापे में राजा ने जयन्ती-नामक स्त्री से विवाह कर लिया। उससे भी एक जयन्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जयन्ती ने एक बार राजा को प्रसन्न करके और अनुकूल जानकर अपने पुत्र जयन्त के लिए राज्य और पटरानी की सन्तान के लिए बनवास का प्रस्ताव किया। कामोन्मत्त राजा ने इसे स्वीकार कर लिया। पटरानी के पाँच पुत्र और पाँचों पुत्रियाँ पिता के आदेश से बन में जाकर रहने लगे। वे बनों में अनेक स्थानों पर विचरते हुए हिमालय के शाकोट बन में महर्षि कपिल के आश्रम में पहुँचे। कपिलजी ने उनका यथोचित आदर सत्कार किया और उन्हें अपने आश्रम में ठहराया। महर्षि के आदेशानुसार उन लोगों ने आश्रम के समीप

बड़ा उत्सव मनाया। राजकुमार का नाम सिद्धार्थ रखा गया। पाँचवें दिन कुल-पुरोहित ने कुमार का नाम गौतम रखा। दैवलीला-वश मायादेवी पुत्र-जन्म के सातवें दिन प्रसूति-गृह में ही अपने प्रिय पुत्र को महा-प्रजावती की गोद में सौंपकर परलोक सिधारीं। महाराजा परिजनों सहित बालक को लेकर कपिलवस्तु लौट आए।

बालक को देखकर उस समय के सब से बड़े ज्योतिषी 'असित' ने कहा—"राजन्! आप बड़े भाग्यशाली हैं। यदि यह बालक गृहस्थ में प्रविष्ठ होगा तो चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा और यदि सन्यासी हुआ तो स्वय मोक्ष-लाभ कर, अन्यों के लिये अपावृत मोक्ष मार्ग का उद्धार करेगा और सम्यक् सबुद्ध होगा।"

जब कुमार आठ वर्ष का हुआ तो उसका व्रत बन्ध-संस्कार कराया गया। कुमार सिद्धार्थ गुरु विश्वामित्र के आश्रम पर रहकर विद्याध्ययन करने लगा। अल्प समय में ही वह सकल विद्या पारगत हो गया।

१५ वर्ष की अवस्था में विद्याध्ययनसमाप्त होने पर महाराजा शुद्धोधन ने गुरु विश्वामित्र* को यथोचित दक्षिणा आदि से सत्कृत किया और धूम धाम से बाजे गाजे सहित स्नातक सिद्धार्थ ने कपिलवस्तु में प्रवेश किया।

* प्राचीन काल में आजकल के शङ्कराचार्य के समान ही विश्वामित्र की परम्परा प्रचलित थी।

कुमार को एकान्त-वास अधिक प्रिय था। वह बहुत कम अपने महल से कहीं जाता। उसका सारा समय त्रिविध दुःख निवृत्ति के उपाय सोचने और अन्यान्य दार्शनिक गुत्थियों के सुलझाने में ही व्यतीत होता था।

महाराजा शुद्धोधन कुमार की यह दशा देख, चिन्तित होकर सोचने विचारने लगे कि कहीं कुमार इस वैराग्य की अवस्था में गृह त्याग न कर दें। वे चाहते थे कि कुमार क्षत्रियोचित मार्ग का अनुसरण करे। अतः उन्होंने कुमार को विवाह बन्धन में जकड़ने का निश्चय किया।

जब सिद्धार्थ को पिता की चिन्ता का पता चला तो उसने उस चिन्ता को दूर करने का सकल्प किया। एक अवसर पर जब सभी शाक्य धनुर्धर एकत्रित थे तो सिद्धार्थ ने अपने शस्त्र कौशल से सब को आश्चर्य - चकित कर दिया और उपस्थित योद्धाओं के छक्के छुड़ा दिये। पिता की चिन्ता दूर हुई, उन्हें सन्तोष का साँस लेने का अवसर मिला। कुछ काल पश्चात् देवदह के राजा दंडपाणी की कन्या गोपा से सिद्धार्थ का विवाह हो गया। गोपा इतिहास में यशोधरा, मृगया, उत्पलवर्णा आदि कई नामों सेप्रसिद्ध है। महाराज दण्डपाणी सिद्धार्थ कुमार की माता के भाई थे।

विवाह हुआ, वधू आई, पर कुमार का एकान्त वास न गया। उनका दर्शन और त्रिविध दुःख निवृत्ति का चिन्तन जारी ही रहा। महाराज शुद्धोदन कुमार के भावों को

सशंक-चित्त होकर देखते और उसकी सुख, सुविधा और आमोद-प्रमोद-आदि के लिये नित्य नई नई व्यवस्थायें करते रहे। एक बार जब महाराज को समाचार मिला कि गोपा गर्भवती है तो उन्हें अतीव प्रसन्नता हुई। उनकी आशा-लता फिर पनपने लगी। उन्हें अपने उपाय सफल होते हुए दीख पड़े। गोपा के गर्भवती होने के उपलक्ष्य में शाक्य समाज में उत्सवों की व्यवस्था हुई। कुमार एकान्त में बैठकर दुःख का निदान ही सोचता रहा।

एक बार कुमार नगर से बाहिर घूमने के लिये बाग में जारहा था। उसने सड़क पर जाते हुए एक बूढ़े को देखा। कमर झुक गई थी। सारे शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं। कम दिखाई देता था, कम सुनाई देता था। वह लाठी के सहारे चल रहा था। कुमार ने सारथी छन्दक से पूछा—

"इस पुरुष की यह ऐसी अवस्था क्यों है ?"

सारथी ने कहा—

"देव ! इस पुरुष को बुढ़ापे ने घेर लिया है। इन्द्रियाँ क्षीण होगई हैं। यह दुःखित और बल-हीन है।"

कुमार ने फिर पूछा—

"क्या इसका कुल-धर्म है, अथवा संसार की यही अवस्था है" सारथी बोला—

"संसार की यही अवस्था है। समस्त जगत् के यौवन

को जरा ग्रस्त करती ही है। यह मुझे और आपको, आपके मात पिता व किसी को भी छोडनेवाली नहीं।"

कुमार ने कहा—

'सारथी धिक्कार है उस अबोध मनुष्य की बुद्धि को, जो जवानी के नशे में मदोन्मत्त होकर जरा की ओर ध्यान नहीं देता।"

कुमार ने पास जाकर बूढ़े को भली प्रकार देखा। फिर रथ में बैठकर अपने प्रासाद में चला आया और बुढापे से छुटकारा पाने का उपाय सोचने लगा।

ऐसी छोटी-छोटी घटनायें तो सभी के जीवन में घटित होती हैं। बूढ़ो को किसने नहीं देखा? पर कितने हैं, जो बुढापे से बचने के उपाय करते हैं? महापुरुष छोटी से-छोटी घटना से भी बडी बड़ी शिक्षा ग्रहण करते हैं।

दूसरी बार कुमार ने एक रोगी को देखा और रोगों पर विजय पाने का निश्चय किया। तीसरी बार एक मृतक को देखा और मृत्यु पर विजय पाने का सङ्कल्प लिया। चौथी बार एक शान्त चित्त सन्यासी को देखा। पूछने पर सारथी ने बताया—"यह भिक्षु है, इसने काम और रति को त्याग दिया है। यह आत्मा की शान्ति चाहता हुआ राग और द्वेष का परित्याग करके भिक्षाचरण कर रहा है।" कुमार को इस उत्तर से बड़ा हर्ष हुआ। उसे अपनी गुत्थी सुलझती हुई सी प्रतीत हुई।

१—ससार महाचार बन्धन में बद्ध है। इसे मुक्त करना चाहिये।

२—ससार घोर अविद्यान्धकार मे ग्रस्त है। इसे प्रज्ञा-चक्षु प्रदान करना चाहिये।

३—मनुष्यो को अहङ्कार, अस्मिता आदि से बचाना चाहिये।

४—प्रज्ञा शक्ति प्राप्त कर और धर्म का पता लगाकर ससार को पुनर्जन्म के चक्कर से बचाना चाहिये।

आषाढ मास की पूर्णिमा का दिन और आधी रात का समय था। कई दिन के आनदोत्सव से थके माँदे स्त्री पुरुष इधर उधर अस्त व्यस्त निद्रा देवी की गोद में पडे खर्राटे भर रहे थे। कुमुदिनी नायक आकाश में अपनी पूर्ण आभा के साथ कुमार का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। कुमार ने इधर-उधर दृष्टि-विपर्यय किया। वह रग-भूमि उन्हें श्मशान समान दिखाई दी। रूप सौन्दर्य सम्पन्न स्त्रियाँ नगी, अध-नगी सी पडी अत्यन्त घिनावना दृश्य उपस्थित कर रही थीं। कुमार ने सारथी छन्दक को बुलाया और अपना गृह-त्याग का निश्चय बताकर शीघ्र अश्व तैयार करने का आदेश दिया। छदक ने समझाना चाहा। कुमार ने कहा—

"मेरे सिर पर वज्र भले ही गिरे, भले ही बिजली, परशु, शर और पत्थर की वृष्टि हो। धधकता हुआ ज्वाला-मुखी भी क्यों न टूट पडे। मेरे हृदय मे गृहस्थाश्रम की अभि-

लापा न होगी–न होगी।" छन्दक अश्व लाने गया। अन्तिम झाँकी लेने के लिये कुमार अन्तःपुर मे पहुँचा। गोपा सूतिका गृह मे बेसुध सो रही थी। पास ही राहुल शिशु सो रहा था। चाहा, गोपा को गृह त्याग की सूचना दे, केवल एक बार गोद में लेकर पुत्र सुख का अनुभव करे। मनोवेग ने रोका, वह उल्टे पाँव लौट पड़ा।

विश्वास-पात्र छन्दक घोड़ा ले आया। कुमार सवार हुआ और अपने उद्देश्य का चिन्तन करते हुए घर एवं नगर से विदा हुआ। कई दिन और रात चलकर उसने दूरवर्ती अनामा नदी को पार किया। वस्त्राभूषण छन्दक को देकर कुमार ने कहा—'छन्दक' लो लौट जाओ। माता पिता को मेरा प्रणाम कहना और कहना, मेरे गृह त्याग का शोक न करें। अपने उद्देश्य में सफल हो सका तो मैं फिर भी कपिलवस्तु आकर उनके दर्शन करूँगा।"

छन्दक ने पहिले तो साथ रहने का आग्रह किया। अन्त में समझाने बुझाने से लौट गया।

कुमार ने स्वयं ही शिखा काट डाली और आगे बढ़े। राजोचित वस्त्राभरण तो वह त्याग चुका था, परन्तु जो दो चार वस्त्र शेष रह गये, वे भी बहुमूल्य थे। कुमार को वे अपने उद्देश्य में बाधक और भार-रूप प्रतीत होने लगे। चलते-चलते कुमार को एक ठग मिला, जो साधु वेश बनाए बैठा था। कुमार ने अपने वस्त्र उसे देकर उसके

निकला हूँ। मैं उसे अवश्य प्राप्त करूँगा। अब मुझे अन्यत्र जाना चाहिये।" आचार्य ने तथास्तु कहकर अनुमति दे दी। पाँच विद्यार्थी* गुरु से कुमार का वार्तालाप सुन रहे थे। कुमार आश्रम से चला तो वे भी पीछे-पीछे हो लिये। उन्होने भी कुमार के साथ रहकर प्रज्ञा लाभ करने का सकल्प किया।

वहाँ से सब गया पहुँचे। उस समय गय - शीर्ष पर्वत पर कोई बड़ा उत्सव मनाया जारहा था। उत्सव के अधिष्ठाता ने सब का यथोचित सत्कार किया। कुमार भिक्षाचर्या करते हुए वहाँ रहने लगा। वहाँ उसने अनेक प्रकार के साधुओ को देखकर विचार किया कि तीव्र, मृदु और मध्य भेद से साधुओ की तीन कोटियाँ हो सकती हैं। कुछ तो ऐसे हैं, जो काम-सुख में बार-बार निमग्न होते हुए भी विशुद्ध बोध की प्राप्ति की कामना रखते हैं। दूसरे वे हैं, जो कभी काम-भोग आदि मे अनुरक्त थे, परन्तु अब वैराग्य-अभ्यास आदि द्वारा उधर से हटकर योग-साधन मे सलग्न हैं। तीसरे वे हैं, जिनका चित्त कामादि से अभि-

* इन्हीं पाँचों को बौद्ध-साहित्य में पचभद्रवर्गीय कहा गया है। जब कुमार गया में तप कर रहा था, तो ये सारनाथ में, जो कि उस समय ऋषिपत्तन कहलाता था आकर रहने लगे थे। महात्मा बुद्ध ने सर्व प्रथम इनको ही ऋषिपत्तन में धर्म चक्र का उपदेश दिया था।

पिक्त नहीं और वे योगाभ्यास आदि द्वारा प्रज्ञा लाभ करने के लिये प्रयत्नशील हैं। पहिला को सफलता नहीं मिलेगी, दूसरो की सफलता सदिग्ध हैं। हाँ, तीसरे अभ्यास मे लगे रहे तो अवश्य ही सफल हो जायेंगे।

उन्होंने काया-शुद्धि के लिए तपादि के अनुष्ठान का विचार किया। वे तपोभूमि की खोज करते हुए गया के समीप निरञ्जना नदी के किनारे उरुविल्व-नामक ग्राम मे पहुँचे। वहाँ का जल वायु शुद्ध और स्थान अति मनोरम था। कुछ वृक्षों पर बेलें चढी हुई थीं और प्रकृति देवी ने एक सुन्दर कुञ्ज सा बना दिया था। कुमार ने यही स्थान योग साधन के लिए उपयुक्त समझा। घोर तपानुष्ठान आरम्भ हुआ। उन्होंने चान्द्रायण आदि व्रत-चर्या-द्वारा शरीर को अत्यन्त कृश कर, उष्ण काल मे पञ्चाग्नि तापन और शीत काल मे नग्न रहकर शीतोष्ण सहन आदि, परम दुष्कर तप किये। भिक्षा का भी परित्याग कर दिया। ग्राम बालाएँ नमक, मिर्च, तिल, तन्दुल आदि जो रख जाती थीं, वे कभी कभी उन्हीं का आहार-रूप से सेवन कर लेते थे। छः वर्ष तक यह कार्य क्रम चलता रहा। मास और रक्त सूख गया। चमडे, नसों और हड्डियों का पंजर मात्र रह गया। पेट बल खाकर पृष्ठि वश मे जा लगा। उद्देश्य की पूर्ति होने मे न आती थी। 'अभी दिल्ली दूर है' वाली बात थी। कुमार को अनुभव हुआ, 'जो पुरुष स्वय अशक्त

आषाढ की पूर्णिमा की रात्रि ससार में सदा आदर से देखी जाने की अधिकारी है। इस दिन महाराज सिद्धार्थ को बोध प्राप्त हुआ था। यही बोध था, जिसके पश्चात् वे गौतम से 'गौतम बुद्ध' कहलाये और जिसकी प्राप्ति के लिये वे अपनी प्राण प्यारी भार्या, नवजात शिशु, माता, पिता और परिजनो की मोह-ममता को बिसारकर घर से निकले थे।

उस रात के प्रथम पहर मे उन्हें दिव्य चक्षु प्राप्त हुए। उन्होने देखा कि असख्य प्राणियो को मानसिक, वाचिक और कायिक पापो के वशीभूत होने से मानव धर्म-विरोधी मिथ्या-दृष्टि, मिथ्या-कर्म और मिथ्या धर्म प्राप्त हुआ है, जिससे वे मरण से अपार दुर्गति, विनियात आदि दुःख-सागर में पड़कर दुःख भोग रहे हैं। उन्होने मानसिक, वाचिक, कायिक, सुचरित से सम्यग् दृष्टि, सम्यक्कर्म और सम्यक् धर्म प्राप्त करके स्वर्ग मे अनेकश सुगति और सुख का उपभोग करते भी देखा। आँखो के सामने से अन्धकार का आवरण हट गया। फिर उन्हें पूर्वानुस्मृति ज्ञान का दर्शन प्राप्त हुआ। सैंकडो, सहस्रो विगत जन्मो की बाते स्मरण हो आई, फिर आश्रय ज्ञान-दर्शन विद्या की प्राप्ति हुई। ससार के सब प्राणी घोर अविद्यान्धकार मे ग्रस्त दिखाई पड़े। बुद्ध ने विचारपूर्वक दुःख, समुदाय, निरोध-गामिनी और प्रतिपद-नामक चार आर्य सत्यो का साक्षा-

हार किया। उन्हें सारा संसार कार्य कारण के सूत्र में आबद्ध ओत प्रोत दिखाई देने लगा। जब प्रातःकाल उषा का आगमन हुआ तो उन्हें सम्यक् संबोधि प्राप्त हुई। अन्तःकरण बोधिज्ञान से परिपूर्ण होगया। उधर भगवान भुवन भास्कर का प्रकाश फैलने लगा था, इधर वह विज्ञान मार्तण्ड अपनी पूर्ण चमक दमक के साथ जगमगा रहा था। ब्रह्मानन्द में निमग्न होकर वे गाने लगे—

> अनेक जाति संसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
> गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥
> गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
> सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं।
> विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा॥

"मैं अनेक जन्म पर्यन्त संसार के दुःखों को सहता हुआ इस घर के निर्माणकर्ता को ढूँढता रहा, पर वह न मिला। हे गृहकार आज मैंने तुझे देख लिया, अब तू दूसरा घर न बना सकेगा। मैंने तेरे सब सामान तोड़ फोड़ डाले हैं, तेरा गृह कूट ध्वंसित कर दिया, मेरा चित्त संस्कार हीन हो गया है। तृष्णा का क्षय होगया है।"

बोधि ज्ञान लाभ होने पर भगवान् बुद्ध सात सप्ताह तक बोधि वृक्ष के आस पास रह कर ही ज्ञान ध्यान में मग्न रहे और अपना भावी कार्यक्रम निर्धारित करते रहे। इस बीच में उनके मुख से जो वाणी निकली वह ज्ञान

सागर के उत्तमोत्तम मोतियों के समान है। एक घमण्डी ब्राह्मण उनके पास आकर पूछने लगा—

"गौतम ब्राह्मण किसे कहते हैं ?"

वे बोले—

"जो पाप कर्म नहीं करता, किसी को हूँ हूँ नहीं करता और कषाय रहित यतात्मा है। जो वेदान्तज्ञ है। जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया है। जिसको इस संसार में विचलित करने वाला कोई भी नहीं है। वही ब्राह्मण और ब्रह्मचर्य का उपदेश करने का अधिकारी है।"

एक दूसरे अवसर पर उनके मुख से स्फुरित हुआ—

"विवेक तुष्ट और श्रुत धर्म को यह देख कर सुख है कि लोक में अव्यावाध सुख प्राणीमात्र का संयम है। विरागता सुख है। पापों से बचना सुख है। इस मनुष्य लोक में यही परम सुख है।"

भगवान् विचार करने लगे। अनेक जन्म की तपश्चर्या से बोधि ज्ञान प्राप्त हुआ है। कठिनाई से संसार की गूढ़तम पहेली समझ में आई है। यह तत्त्व दुर्बोध और सूक्ष्म है। सांसारिक जन तो काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और मत्सर-आदि में ग्रस्त हैं। मैं इस ज्ञान के उपदेश के लिये अधिकारी कहाँ से पाऊँगा ?

उन्होंने पहिले आचार्य रुद्रक और फिर आचार्य अरण्डकालाम के पास जाने का निश्चय किया। इसी बीच

मे समाचार मिले वे अब इस ससार मे नहीं रहे। वे सोचने लगे—'क्या मैं अकेला ही इस ज्ञान का सुख भोगूँ? भावी सन्तान को जब ज्ञात होगा कि सिद्धार्थ ने अपूर्व विज्ञान लाभ किया था और उसने वह किसी दूसरे को नहीं दिया, तो वे मुझे क्या कहेंगे? अब क्या करूँ? अधिकारी कहाँ मिलेगा? उत्तम, मध्यम न सही, अधम अधिकारी ही सही, मिले भी। उन्हें पचवर्गीय भिक्षु याद आये, जो उन्हें छोड कर काशी चले गये थे। भगवान् ने काशी की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में एक साधु मिला। तेजोमय, ब्रह्मनिष्ठ बुद्ध के शान्त और आनन्द पूर्ण मुख मडल को देखकर उसने पूछा—"भगवन! आपने किस गुरु से महा-ज्ञान की शिक्षा ग्रहण की है?" महाराज ने कहा—"मैंने सब कुछ स्वय अनुभव किया है और जाना हैं। मैं सब धर्मों से अलिप्त हू, मैंने सबको जीत लिया है, मेरी वासनाएँ जिनसे शरीर ग्रहण करना पड़ता है क्षीण हो गई हैं। मैं जीवन मुक्त हो गया हू, मैं किसे बताऊ जिससे मुझे ज्ञान मिला है?" साधु ने कहा—"यह सम्भव है! आप जा कहा रहे हैं?"

"मैं काशी जा रहा हूँ, वहा जाकर धर्म चक्र प्रवर्तित करूँगा।"

आगे बढे, मार्ग मे गगा आई, वर्षा ऋतु थी, मल्लाह को देने के लिये पास दाम तो थे ही नहीं दृढ़ व्रती बुद्ध

बिना नाव के ही गंगावतीर्ण होकर काशी पहुंचे। नगर में भिक्षा करके ऋषि पत्तन की ओर चल दिये। यहीं कौंडिन्य, वप, भद्रिय, महानाम और अश्वजित नामक पंच भद्रवर्गीय कुमार तपस्या करते हुए रहते थे। दूर से महाराज को अपनी ओर आते हुए देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। परस्पर कहने लगे—"अब तो गौतम भिक्षा खा खा कर मोटा हो गया है।" समीप आने पर उन्होंने महाराज को यथोचित सत्कृत किया और पूछने लगे—"कहो गौतम किधर भूल पड़े ?" महाराज बोले—'भिक्षु गण! मैंने बोधि ज्ञान प्राप्त कर लिया है। मैं तुम लोगों को उसका उपदेश देने आया हूँ।"

वे अविश्वासी, महाराज की हंसी उड़ाने लगे, महाराज ने उनको अनेक प्रकार से समझा बुझाकर विश्वासी बनाया। अन्त में कौंडिन्य ने सबसे पहिले भगवान् बुद्ध के धर्म को स्वीकार किया। पांच दिन तक उपदेश सुनकर शेष चार भी उनके अनुगत हो गये। महाराज ने उनको परिव्राज्य (सन्यास) ग्रहण करा के उपदेश दिया। महाराज की कीर्ति छटा दशों दिशाओं को आलोकित करने लगी, झुण्ड के झुण्ड युवक आ आ कर उनके शिष्य बनने और सन्यास ग्रहण करने लगे। ऋषि पत्तन में ही महाराज ने प्रथम चातुर्मास्य व्यतीत किया। ज्यूं ही शिष्यों की संख्या इकसठ हुई, उन्होंने संघ का संगठन

किया और यहीं से बौद्ध धर्म के तीनो अंग अर्थात बुद्ध, धर्म और संघ परिपूर्ण हुए। उन्होंने शिष्य वर्ग को उपदेश देते हुए कहा—

'चारो दिशाओ में जाकर सन्तप्त हृदय संसारी जनों को धर्म का उपदेश करो, सब अकेले अकेले एक एक मार्ग से जाना, कहीं दो आदमी एक साथ न जायें—

प्रपूरय धर्म शंख, प्रताड्य धर्म दुंदुभि।
प्रसारय धर्म ध्वजाँ, धर्म कुरू, धर्म-कुरू, धर्म कुरू॥

धर्म का शंख फूंक दो, धर्म का डंका बजा दो, अखिल विश्व में धर्म ध्वजा फहरा दो। धर्म करो ! धर्म करो !! धर्म करो !!!

उनका धर्म चक्र इतनी द्रुतगति से घूमा कि स्त्रियों में घबराहट फैल गई। झुण्ड के झुण्ड पुरुष समूह आते और उपदेशामृत से कृत्य कृत्य होकर भिक्षु बन जाते। जिस भी ग्राम में महाराज पहुंचते स्त्रियां कहतीं—"ईश्वर बचाये, न जाने अब किस किस के पुत्र, भाई और पति को लेने के लिये यह गौतम आया है ?"

महाराज शुद्धोधन ने गौतम का पता पाकर लिवाने के लिये एक के बाद एक अनेक विश्वास पात्र व्यक्ति भेजे जो आता वही शिष्य बनकर रह जाता, लौटने का नाम न लेता।

'काला उदायी' गौतम का एक ऐसा ही शिष्य था

जिसे महाराज शुद्धोदन ने कुमार को ले आने के लिये भेजा था। एक बार उसने कपिलवस्तु चलने की प्रार्थना की। भगवान लगातार दो मास चलकर संघ सहित कपिलवस्तु पहुंचे और नगर के बाहिर ही न्यग्रोध कानन में ठहरे। उनके आने का समाचार सर्वत्र फैल गया जनता उनके दर्शन को टूट पड़ी और उपदेशामृत पान कर कृतकृत्य होने लगी।

दूसरे दिन नगर में भिक्षा के लिये पधारे। नगरवासी उनको कषाय वस्त्र पहने और भीख मांगते देख फूट फूट कर रोने लगे। यह समाचार राज-महल में पहुंचा, गोपा ढारें मार-मार कर रोने लगी। वह दौड़ी दौड़ी महाराजा शुद्धोदन के पास जाकर बोली—"महाराज बड़े लज्जा की बात है कपिलवस्तु में आकर भी आर्य पुत्र को घर-घर भिक्षाटन करना पड़ रहा है।" महाराज शुद्धोदन नंगे पांव दौड़े हुए भगवान् के पास पहुँचे और आँखों से आँसू बहाते हुवे सिसक-सिसक कर बोले—"वत्स! तुम क्यों द्वार द्वार भिक्षा मांग कर मुझे लज्जित करते हो? क्या मैं तुम्हें और तुम्हारे संघ को भोजन न दे सकूंगा।" तथागत ने कहा—"महाराज भिक्षा वृत्ति तो हमारा कुल धर्म है।"

महाराज ने विस्मित होकर कहा—"हमारे कुल में तो किसी ने कभी भीख नहीं मांगी।"

महात्मा बुद्ध बोले—"न मांगी होगी, पर मैं तो बुद्धो के कुल मे उत्पन्न हुआ हूँ। बुद्ध तो सभी भिक्षाचर्या करते रहे हैं।"

इसके उपरान्त भगवान सघ सहित राज महलों में पधारे, भिक्षा ग्रहण की, राज परिवार और कर्मचारियों को बहु विध उपदेश दिये। राजमहल के उपदेश में और तो सब आये पर न आई तो एक 'मानिन' गोपा ही न आई, लोग उसे बुलाने गये तो उसने साफ कह दिया—

'मैं न जाऊँगी, यदि उन्हें मेरा स्नेह होगा तो वे स्वय यहा आकर मुझे उपदेश और दर्शन देंगे।"

उधर उपदेश समाप्त कर भगवान् अपने दो शिष्यो को साथ लेकर गोपा की ओर चले। शिष्यों को समझा दिया कि यदि गोपा प्रेम विह्वल होकर मेरा अग स्पर्श करे तो उसे न रोकना।

गोपा भगवान् को आया देख फूट-फूट कर रोने लगी। भगवान् उसे उपदेश और सान्त्वना देकर लोट आये। महाराज शुद्धोदन ने गौतम की ओर से सर्वथा निराश होकर दूसरे राजकुमार नद को जो प्रजावती का पुत्र था, युवराज पद पर अभिषिक्त करने का निश्चय किया। परन्तु नद इसके पूर्व ही जाकर भिक्षु बन गया। महाराज शुद्धो-धन और महा प्रजावती सिर पीट कर रह गये। अब राहुल पर ही उनकी दृष्टि थी।

(७) भिक्षुओं की निन्दा या उन पर कटाक्ष न करे।
(८) भिक्षुओं के उपदेशानुसार चले।

इतिहास के आधार पर मुझे यह लिखते हुए हार्दिक दु:ख होता है कि आगे चलकर स्त्रियों का भिक्षुणी बनना और अष्टांगी धर्म ही बौद्ध-मत के ह्रास का प्रमुख कारण बना। भगवान् बुद्ध ने चाहे जितनी भी पवित्र भावना और सोच-विचारपूर्वक अष्टांगी धर्म का विधान क्यों न किया हो। इन अष्टांगों में ऐसे तत्व मौजूद हैं, जो भिक्षुणियों को भिक्षुओं के (स्त्रियों को पुरुषों के) सर्वथा आधीन कर देते हैं और वे ही बुराई का मूल कारण भी बने हैं।

इक्यासी वर्ष तक संसार में रहकर ईसा से ४७८ वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध का महानिर्वाण हुआ था। उनका अन्तिम वाक्य था—

'संयोगा विप्रयोगान्ता' अर्थात् 'संयोग का वियोग ध्रुव है।'

मानव धर्म के उत्साही और माननीय प्रचारक श्री स्वामी विवेकानन्दजी ने संसार-भर के बौद्धों को लक्ष्य करके कहा था—

"आप लोगों ने सुना है कि मैं बौद्ध मतावलम्बी नहीं हूँ, परन्तु यदि मैं अपने को ऐसा कहूँ तो भी कोई हानि नहीं। चीन, जापान तथा लंका के अधिवासी उस महा-

पुरुष लोक गुरु बुद्ध की शिक्षा के प्रति-पालक हैं, परन्तु हिन्दू लोग उसे ईश्वर का अवतार मानते हैं। आपको मत है कि मैं बौद्ध मत की समालोचना करनेवाला हूँ, परन्तु इसका उद्देश्य दोष प्रकट करने का नहीं। जिसको हम ईश्वर का अवतार मानते हैं, उसके गुण दोष विचार से ईश्वर बचाए। परन्तु भगवान् बुद्ध के विषय में यह मत है कि उनके शिष्यों ने उनकी शिक्षाओं को ठीक ठीक नहीं समझा। हिन्दू मत अर्थात् वेदोक्त-धर्म और वर्तमान काल के बौद्ध मत में वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा कि यहूदी मत और ईसाई मत में है। ईसामसीह यहूदी सन्तान थे और बुद्धदेव हिन्दू ही थे, परन्तु भेद इतना है कि यहूदियों ने ईसा को केवल निकाल ही नहीं दिया, किन्तु सूली पर चढ़ाकर उनकी हत्या भी की। और हिन्दुओं ने बुद्ध को अवतार माना। अभी तक उनका पूजन करते हैं। परन्तु हम प्रचलित बौद्ध मत में और भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं में जो वास्तविक भेद दिखलाना चाहते हैं, वह विशेषत यह है कि शाक्य मुनि ने कोई नई शिक्षा देने के लिये अवतार नहीं लिया था। वह भी ईसा के समान धर्म की रक्षा के लिये ही आये थे न कि धर्म का नाश करने के लिये। जैसे ईसा यहूदियों की श्रद्धा नूतन धर्म पुस्तक (New Testament) पर और ईसाइयों की पुरातन धर्म पुस्तक (Old Tesament) पर स्थापित करना

चाहते थे, पर यहूदियो ने पुरातन धर्म पुस्तक की पूर्णता को समझा नहीं। उसी प्रकार बौद्धो ने बुद्ध की शिक्षा, हिन्दू मत के सत्य (वेद) धर्म की पूर्णता नहीं समझी। मैं फिर भी आप लोगो से कहता हूँ कि शाक्य मुनि विनष्ट करने नहीं आया था, हिन्दू धर्म के स्वभाविक विकास होने से जो फल प्राप्त होता है, वही उन्होने दिखलाया है।

हिन्दू-धर्म के दो भाग हैं। एक कर्म काण्ड और दूसरा ज्ञान काण्ड। विशेषकर इसी ज्ञान काण्ड का पठन-पाठन सन्यासी लोग किया करते हैं। इसमे जाति-भेद नहीं है। भारतवर्ष में ऊँच और नीच दोनो प्रकार की जातियो के लोग त्यागी हो सकते हैं। धर्म मे जाति-भेद नहीं है। जाति एक सामाजिक बन्धन-मात्र है। शाक्य मुनि स्वय सन्यासी थे और यह उनके तेज प८ महात्म्य का फल है कि उन्होने अपने हृदय से वेद के गूढ आशयो को समझकर उनका प्रचार समस्त जगत मे किया। इस जगत मे वह सब से पहला पुरुष हुआ है, जिसने धर्मोपदेशको की पृथा चलाई। इतना ही नहीं, किन्तु भ्रान्त मनुष्यों को अभ्रान्त सत्य धर्म में ले आने का विचार भी पहिले पहल उन्हीं के मन मे हुआ।

इस महान् पुरुष के महात्म्य का कारण उसकी सर्व भूत—विशेष करके अज्ञानी और दीन जनों पर अतिशय

दया थी। उसके कोई-कोई शिष्य ब्राह्मण थे। जिस समय बुद्ध भगवान धर्मोपदेश कर रहे थे, उस समय भारतवर्ष की साधारण भाषा संस्कृत न रह गई थी। संस्कृत उस समय—पण्डितों की—पुस्तक की भाषा थी। बुद्धदेव के कुछ ब्राह्मण शिष्यों ने उनके उपदेशों का अनुवाद संस्कृत-भाषा में करना चाहा था, पर बुद्धदेव उनसे सदा यही कहते थे कि—"मैं अधम और साधारण जनों के लिए आया हूँ। मुझे उन्हीं की भाषा में शिक्षा देने दो।" इसी कारण उनके उपदेश अब तक उस समय की (प्राकृत) भाषा में पाये जाते हैं।

दर्शन-शास्त्र की पदवी कितनी ही ऊँची क्यों न हो, पर जब तक कि इस लोक में मृत्यु और मनुष्यों के हृदय में निर्बलता है, जब तक मनुष्य अपने हृदय की निर्बलता के कारण विलाप करता रहेगा, तब तक ईश्वर में उसका विश्वास और श्रद्धा रहेगी ही।

हे बौद्ध गण! हम लोग न तो आपके बिना रह सकते हैं और न आप हम लोगों के बिना रह सकते हैं। अब निश्चय रखो कि हमारे परस्पर वियोग ने स्पष्ट प्रकट कर दिया है कि न तो आप ही ब्राह्मणों के ज्ञान और बुद्धि के बिना ठहर सकते हैं और न हम लोग ही आपके उच्च हृदय की सहायता के बिना रह सकते हैं। बौद्धों और ब्राह्मणों का परस्पर वियोग ही भारतवर्ष की वर्तमान

अधोगति का कारण हुआ है। इसी विभेद से वर्तमान भारत, तीस करोड़ भिक्षुकों की आवास भूमि हो रहा है और इसी हेतु से भारतवर्ष एक सहस्र वर्ष से अन्य विजातीय जनो का क्रीत दास हो रहा है। इसी कारण ब्राह्मणो के अद्भुत ज्ञान से उस महा-पुरुष (बुद्धदेव) के हृदय, उच्च आत्मा और अद्भुत करुणाकारी बल को मिलाकर एक करना चाहिये।"

स्वामीजी ने ठीक ही इस भाषण-द्वारा हिन्दू-मात्र का सच्चा प्रतिनिधित्व किया है।



महावीर

भगवान महावीर भगवान बुद्ध के समकालीन मानव धर्म प्रचारक थे। उस समय राजाओं के उच्छृङ्खलतापूर्ण पारस्परिक लड़ाई झगड़ों, ब्राह्मणों की कर्तव्य विमुखता, स्वार्थपरता और वेदों के नाम पर फैलाई गई पोप लीला के कारण देश में सर्वत्र मोह-मात्सर्य, राग द्वेष, विशृङ्खलता, श्रेणी संघर्ष एवं अज्ञानान्धकार व्याप्त था। पवित्र धर्म-मन्दिर घोर पोप लीला के अड्डों के रूप में परिणत हो चुके थे। यज्ञों में पशु हिंसा की भरमार थी। भेड़, बकरी, भैंसे और गाय बैल तक, 'वैदिक हिंसा, हिंसा न भवति' का प्रमाण देकर और वेद मन्त्र पढ़-पढ़कर सरे आम वध किये जाते और देवताओं का पवित्र प्रसाद बताकर नि:स-कोच उदरस्थ कर लिये जाते थे। रूढ़िवाद के हाथों मानवता का ह्रास तथा अपमान अपनी चरम सीमा का उल्लंघन कर चुका था। इसीलिए उस विकट पतन काल में सनातन देव-लीला द्वारा नियुक्त दो मानव धर्म-प्रचारक, भगवान बुद्ध और भगवान महावीर, एक ही साथ मानवता के संरक्षण, संवर्धन एवं अखिल विश्व की सुख शान्ति की

व्यवस्था के लिए, व्यक्तिगत नीच स्वार्थों और भोगैश्वर्य पर लात मारकर कल्याण-मार्ग के पथिक बने थे।

भगवान् बुद्ध ने अपने तप, त्याग, बलिदान एवं सतत भाषण, मनन, निदिध्यासन-द्वारा जिस सात्विक विचार-धारा को जन्म दिया, वह अत्यन्त बलवती और प्रभाव-पूर्ण थी। देखते ही देखते वह विद्युत् वेग से सारे देश में व्याप्त एवं सर्व-प्रिय हो गई। यथोचित रूप में उसमे मानवता का हित साधन और कष्ट-निवारण भी हुआ। परन्तु अनजान मे ही जात पाँत, चातुर्वर्ण्य और मत-मतान्तर जन्य भेद-भाव और विधि-विधान के प्रबल विरोधी भगवान बुद्ध, एक नूतन धर्म-प्रवर्तक के रूप मे संसार के सामने आ गये। मत मतान्तरों की संख्या घटने के स्थान पर बढ गई। भगवान बुद्ध की विचार-धारा के पन्थाई रूप मे परिणत हो जाने के कारण जो त्रुटि आरम्भ मे ही हो गई थी, देर तक तो किसी को उसका भान न हुआ और भगवान् बुद्ध का मैत्री, करुणा, मुदिता और वैराग्य का पवित्र उपदेश चिर-काल तक आश्चर्यजनक रूप रूप में फलता फूलता रहा। परन्तु आखिर वह समय भी आया, जब कि पन्थाई दावानल 'पुनरपि प्रचण्ड रूप में उद्दीप्त होकर मानवता को सन्ताप देने लगा और अपने जन्म स्थान भारतवर्ष मे बौद्ध-धर्म का क्षय होकर नाम मात्र शेष रह गया।

भगवान् महावीर ने अपने पूर्व प्रचलित 'जैन धर्म' को स्वीकार किया और उसे अपने महान् व्यक्तित्व तथा प्रबल सत्य ज्ञान की पुट देकर अकाट्य तर्क और प्रमाणों के आधार पर अत्यन्त परिष्कृत और व्यावहारिक रूप में संसार के सामने रखा और उसे ही अपने सर्वभूत हित-महायज्ञ का माध्यम मानकर उपदेश कार्य आरम्भ किया। इस प्रकार उन्होंने प्रवर्त्तक न होकर सुधारक तक ही अपने स्वरूप को सीमित रखा। जैन धर्म यद्यपि सनातन धर्म था, परन्तु भगवान् महावीर के कार्यक्षेत्र में अवतरित होने से पूर्व उसकी प्राय वही अवस्था थी, जो कि किसी भी धर्म या मजहब की अपने प्रवर्तक के बाद कुछ पीढ़ियाँ व्यतीत होने और रूढ़िवाद का जोर बढ़ने पर हो जाया करती है। उसके स्वरूप में विकार एव गदला पन प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा था। भगवान् महावीर ने उसका जीर्णोद्धार करके न केवल उसे परिमार्जित और सुसंस्कृत रूप मे प्रस्तुत किया, अपितु, उसके आकर्षण और सर्व हितैषी प्रभाव को भी कई गुना बढा दिया। यद्यपि न तो बौद्ध-धर्म के समान त्वरित गति से जैन धर्मानुयायियों की संख्या वृद्धि हुई और न-ही विदेशो में जैन धर्म का कोई उल्लेखनीय प्रसार ही पाया जाता है, फिर भी यह स्पष्ट है कि जैन धर्म निश्चित् रूप से उन्नत होता गया। उसकी प्रगति मन्थर परन्तु ठोस और चिरस्थायी रूप

समानता तथा एक ही काल मे एक-सी बुराइयो की रोक-थाम के लिए प्रयत्नशील रहने और काल क्रम - वशात् देश मे होनेवाले राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक उलट फेर के कारण बहुत दिन तक यह भ्रम परिपुष्ट होता रहा है कि भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर एक ही व्यक्ति के नाम हैं। परन्तु पुष्ट प्रमाणो से यह सिद्ध हो चुका है कि ये दोनों दो ऐतिहासिक महापुरुष और मानव-धर्म प्रचारक थे।

वर्तमान समय के दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि भेद-प्रभेद-ग्रस्त जैनियो की विचार-धारा को देखकर जन-साधारण को भगवान् महावीर को 'अपना महावीर' कहने की कुछ भी प्रेरणा, उत्साह, साहस प्राप्त नहीं होता, न-ही उनके परोपकारमय तप, त्याग और बलिदान प्रधान, शिक्षाप्रद जीवन - चरित्र - विषयक जिज्ञासा ही साधारण जनता मे पाई जाती है। परन्तु 'मानव धर्म' बल पूर्वक इस सच्चाई को उद्घोषित करता है कि 'राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद-प्रभृति अन्यान्य मानव धर्म - प्रचारको के

महावीर भी जैनी अजैनी सब के थे, हैं

नो ने भगवान् महावीर का काल ईसा

किया है।

है कि भगवान् महावीर का

जो कि एक बड़ा नगर और

स्वतन्त्र राजधानी था। बिहार-प्रदेशान्तर्गत गया जिले का 'लम्बवाड़' नामक ग्राम आजकल 'कुण्डग्राम' के स्थानपर आबाद है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत इसमें कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि 'कुण्डग्राम' लिच्छवी वंश की राजधानी 'वैशाली' का एक उप-नगर-मात्र था, जिसमें 'ज्ञातृ' अथवा 'नाथ' जाति के क्षत्रिय लोग आबाद थे। इसी कुल में भगवान् महावीर का जन्म हुआ था।

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों में भगवान् महावीर के जीवन विषय में अनेक परस्पर-विरोधी बातों का उल्लेख पाया जाता है। यथा—दिगम्बरों के अनुसार भगवान् महावीर की माता 'महारानी त्रिशला' सिंधु देश के राजा चेटक की पुत्री थीं। श्वेताम्बर ग्रन्थों में महारानी त्रिशला को वैशाली के राजा चेतक की बहन बताया गया है। यह चेतक या चेटक एक ही था या दो ? इस विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार भगवान् महावीर के विवाह के विषय में भी बहुत विवाद पाया जाता है। दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार वे आजन्म अविवाहित रहे। श्वेताम्बर ग्रन्थों में उल्लेख है कि उनका विवाह राजकुमारी यशोदा से हुआ था और उनकी प्रियदर्शना नामक एक पुत्री भी थी, जिसका विवाह राजकुमार जामालि से किया गया था। ऐसी ही और भी अनेक भेद-

पूर्ण बातें हैं, जिनके विस्तार में जाने का न तो यहाँ स्थान ही है और न आवश्यकता। इसी प्रकार अनेक चमत्कारों अथवा करामातों का उल्लेख भी पाया जाता है, जिन्हें वास्तविक घटना के रूप में स्वीकार करने में हम असमर्थ हैं और अधिक से अधिक उन्हें प्रगाढ़ भक्तिपूर्ण अलंकारिक वर्णन ही मान सकते हैं। यहाँ यह बात भी स्पष्ट कर देनी आवश्यक प्रतीत होती है कि 'मानव धर्म' की अमोघ प्रेरणा के अनुसार 'भगवान महावीर' का पूरा पूरा सम्मान करने में हम किसी भी सम्प्रदाय के जैनी बन्धुओं से पीछे नहीं हैं। हमारा हार्दिक प्रयास यही है कि भगवान् महावीर का पवित्र चरित्र और उनके महान सिद्धान्त एवं सदुपदेश यथा-तथ्य रूप में जनता के सामने आ जावें और संसार के भावी मंगल विधान में सहायक हों। संसार के सब महापुरुषों और उनके उपदेशों का सम्यक् और समान आदर 'मानव धर्म' की मौलिक विशेषता है।

ईस्वी सन से ५९९ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन महारानी त्रिशला के गर्भ से एक होनहार बालक का जन्म हुआ। पुत्र-जन्म की प्रसन्नता में महाराज ने सब कैदियों को मुक्त कर दिया। जात कर्म आदि उत्सव समारोह-सहित मनाये गये। जन्म के बारहवें दिन उन्होंने अपने बन्धु बान्धवों और जातिवालों को आमन्त्रित किया। वे अनेकशः सुन्दर और मंगलमय उप-

स्वतन्त्र राजधानी था। बिहार-प्रदेशान्तर्गत गया जिले का 'लम्बवाड़' नामक ग्राम आजकल 'कुण्डग्राम' के स्थान पर आबाद है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत इससे कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि 'कुण्डग्राम' लिच्छवी वश की राजधानी 'वैशाली' का एक उप-नगर-मात्र था जिसमें 'ज्ञात्' अथवा 'नाथ' जाति के क्षत्रिय लोग आबाद थे। इसी कुल में भगवान् महावीर का जन्म हुआ था।

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थो में भगवान महावीर के जीवन विषय मे अनेक परस्पर-विरोधी बातों का उल्लेख पाया जाता है। यथा—दिगम्बरों के अनुसार भगवान् महावीर की माता 'महारानी त्रिशला' सिद्ध देश के राजा चेटक की पुत्री थी। श्वेताम्बर ग्रन्थों में महारानी त्रिशला को वैशाली के राजा चेतक की बहन बताया गया है। यह चेतक या चेटक एक ही था या दो ? इस विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार भगवान् महावीर के विवाह के विषय में भी बहुत विवाद पाया जाता है। दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार वे आजन्म अविवाहित रहे। श्वेताम्बर ग्रन्थों मे उल्लेख है कि उनका विवाह राजकुमारी यशोदा से हुआ था और उनकी प्रियदर्शना नामक एक पुत्री भी थी, जिसका विवाह राजकुमार जामालि से किया गया था। ऐसी ही और भी अनेक भेद-

वर्ष तक भ्रमण किया था। इसी समय उन्हें कैवल्य प्राप्ति हुई थी।

भद्रबाहु रचित प्रसिद्ध श्वेताम्बर ग्रन्थ कल्प सूत्र के एक अध्याय मे कई तीर्थङ्करो के जीवन चरित्रो का उल्लेख है, उसमे पार्श्वनाथजी के विषय में लिखा है कि वे काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। उनकी माता का नाम कामदेवी था। तीस वर्ष तक गृहस्थ सुख भोगकर वे मुनि बने। ८३ दिन छद्मावस्था मे रहे। ८३ दिन कम सत्तर वर्ष तप करके महावीर से २५० वर्ष पूर्व निर्वाण को गये। पार्श्वनाथजी के समय में अणु व्रतो की सख्या केवल चार थी। यथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह। भगवान महावीर ने देश और काल का विचार करके इनमें 'ब्रह्मचर्य' - नामक व्रत और बढ़ा दिया। पार्श्वनाथजी ने अपने अनुगतो को एक अधोवस्त्र धारण करने की आज्ञा दी है। इसके विरुद्ध महावीर ने अपने शिष्यों को सर्वथा नग्न रहने का उपदेश दिया। इससे यह ज्ञात होता है कि वर्तमान श्वेताम्बर और दिगम्बर समाज आरम्भ में क्रमश पार्श्वनाथ और महावीर के अनुयायी थे।

भगवान महावीर के विवाह के विषय में पाये जानेवाले
... चुके हैं। यद्यपि इस विषय
...द्वानों ने बहुत कुछ लिखा है,
... जाता है कि उन्होंने

हार लेकर आये। राजा ने उन्हें बताया कि इस बालक के गर्भ में आने के समय से ही हमारे राज्य मे धन-धान्य आदि की वृद्धि हो रही है। अत इसका नाम 'वर्धमान' रखा जाये।' सब ने इसका सहर्ष अनुमोदन किया। यही 'वर्धमान' आगे चलकर 'मानव-धर्म' के महान् प्रचारक भगवान् महावीर के नाम से ससार-प्रसिद्ध हुए। उनके एक भाई और एक बहन और भी थे, जिनके नाम क्रमश नन्दिवर्धन और सुदर्शना थे। उनके चाचा का नाम सुपार्श्व था।

भगवान् महावीर का बाल्य और यौवन-काल कैसे बीता, इस विषय मे इतिहास कुछ न बताकर एकदम उस स्थान पर पहुँचता है, जहाँ कि पिता की मृत्यु के पश्चात् तीस वर्ष की आयु मे वे दीक्षा ग्रहण करते हैं। डा० हार्नेल का मत है कि जीवन के आरम्भ-काल में ही वे पार्श्वनाथ-जी के सम्प्रदाय मे शामिल होकर दुईपलास-नामक चैत्य मे रहने लगे थे। फिर उनके त्याग विषयक नियमों से इनका मतभेद हो गया। खास भेद दिगम्बरवाद के विषय मे था। पार्श्वनाथजी के अनुयायी वस्त्र धारण करते थे। भगवान् महावीर सर्वथा नग्न रहना चाहते थे। इस पर वे अलग होकर विहार करने और वर्धमान की बजाय महावीर कहलाने लगे। दिगम्बर होकर उन्होंने बिहार के दक्षिण तथा उत्तर प्रान्त में आधुनिक राजमहल तक, बारह

तीस वर्ष की आयु पर्यन्त गृहस्थाश्रम में रहकर भगवान् महावीर ने गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता को अनुभव किया। साथ ही यह भी देखा कि 'सन्यास श्रेष्ठतर है'। जीवन ने पलटा खाया। संग्रह से बढ़कर त्याग में आनन्द प्रतीत होने लगा और प्रवृत्ति का स्थान निवृत्ति ने ले लिया। प्रायः सभी महापुरुषों के जीवन में ऐसी अवस्थाएँ आया करती हैं, जबकि वे जीवन की रंगीनियों और सब प्रकार की विलास सामग्रियों से ऊब जाया करते हैं। सब प्रकार के राग रंग और रस उन्हें फीके जान पड़ते हैं। पुत्र कलत्र और माता पिता आदि के पवित्र, घनिष्ठ और अटूट सम्बन्ध भी तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। हाट, बाजार और बस्ती, उत्सव आदि काट खाने को दौड़ते हैं। उनके रोम रोम से यही स्वर-लहरी निकलने लगती है कि 'जंगल में अब रमते हैं, मन बस्ती में घबराते हैं। मानुष गन्ध नहीं भाती है, मृग मर्कट मोर सुहाते हैं।' यही अवस्था भगवान् महावीर की भी हुई।

गृहस्थाश्रम में रहकर जीवन रहस्य के तत्वों का सम्यक् अनुसन्धान करने के पश्चात् उन्होंने सन्यास-ग्रहण का निश्चय किया। जब वे २८ वर्ष के थे, तभी उन्होंने सन्यास धारण करना चाहा था, परन्तु कुटुम्बियों, विशेषकर भाई और माता के आग्रह के सामने उन्होंने अपने निश्चय को और कुछ काल के लिए स्थगित करना ही उचित समझा। तीस वर्ष के

विवाह किया था। फिर विवाह का होना कोई दोष या अपराध भी तो नहीं। एक दो को छोडकर सभी तीर्थङ्कर विवाहित थे। महावीर की परिस्थिति भी विवाह के सर्वथा अनुकूल थी। आदर्श की दृष्टि से भी उनका विवाहित होना ही अधिक उत्तम है। उन्हें गृहस्थी के रूप में पाकर सामान्य गृहस्थो को भी बल और प्रसन्नता प्राप्त होती है। उन्हें भी यह आशा होने लगती है कि वे भी महावीर के समान ही गृहस्थाश्रम मे होते हुए उन्नति की ओर जा सकते हैं। इस विषय में सभी दृष्टियों से श्वेताम्बर ग्रन्थों का उल्लेख अधिक माननीय है।

वर्धमान कुमार के युवावस्था में पदार्पण करने पर राजा समरवीर ने अपनी यशोदा-नामक कन्या का उनसे विवाह करने का प्रस्ताव महाराजा के सामने रखा। महाराज ने कुमार के मित्रों-द्वारा यह प्रस्ताव कुमार सम्मुख प्रस्तुत करा दिया। कुमार आरम्भ से ही विर थे, अत उसने पहिले तो इसे स्वीकार न किया, परन्तु जब मित्रों ने बहुत आग्रह किया और बताया कि य माता पिता की उत्कट अभिलाषा है और इस बीच माता भी वहाँ पहुँचकर कुमार को समझाया तो वह विवाह प्रस्ताव से सहमत हो गया। धूम-धाम से विवाह-वि सम्पन्न हुई। समय पाकर यशोदा के गर्भ से 'प्रियदर्शन नामक पुत्री का जन्म हुआ। जिसका विवाह युवा होने जामालि राजकुमार से किया गया।

दूर किये बिना ही दूसरे के अन्त करण को शुद्ध करने का प्रयास करना, एक कोयले से दूसरे कोयले को उज्ज्वल करने के समान व्यर्थ है।

कल्याण मार्ग के पथिकों को जिस परीक्षा की ज्वाला में से होकर गुजरना होता है, और जो विघ्न बाधाएँ उनके मार्ग में आया करती हैं, उनसे भगवान् महावीर को भी दो-चार होना ही पड़ा। भला वे इस विषय मे अपवाद कैसे रह सकते थे? हो सकता है कि अपनी विशेष उच्च अवस्था के कारण महापुरुष इन यातनाओं को सहर्ष सहन कर लेते हो, परन्तु दीक्षा ग्रहण के पश्चात् और कैवल्य-प्राप्ति पर्यन्त भगवान् महावीर को जिन जिन विपत्तियो का सामना करना पड़ा, उनके पाठ-मात्र से ही हम तो भय-विह्वल होने लगते हैं।

एक बार वे कुमारग्राम के पास के जगल में खडे होकर योगाभ्यास कर रहे थे। एक ग्वाला अपने दो बैलो सहित उनके समीप आया और बैलो को छोड़कर कार्यवश कहीं चला गया। जब लौटकर आया तो बैल चरते-चरते कहीं दूर चले गये थे। वह महाराज से पुकार-पुकारकर अपने बैलों के विषय में पूछने लगा, पर वे तो मौनावलम्बन किये नासिकाग्र पर ध्यान लगाये खडे थे, उत्तर कौन देता! ग्वाला पुन बैलो को ढूँढने चला गया। जब फिर लौटा तो बैल भी लौटकर आ चुके थे। इस

पर ग्वाले को सन्देह हुआ कि हो न हो यह कोई छद्मवेशी साधु है और मेरे बैलों को उडा ले जाने के लिए इसने कहीं छिपा दिया था। वह महाराज को मारने लगा। इतने में एक भद्र पुरुष उधर आ निकला। उसने समझा-बुझाकर ग्वाले को मना किया। महाराज की अवस्था पर विचार करके उसने महाराज को सम्बोधित करके कहा कि 'आप जिस मार्ग के पथिक बने हैं, उसमें और भी भीषणतम यातनाओं का सामना करना पड़ेगा।'

एक बार भगवान् महावीर श्वेताम्बरी नगरी की ओर जा रहे थे। मार्ग में एक अत्यन्त विषैला सर्प रहता था। एक ग्वाले ने उन्हें उधर अग्रसर होते देख, दूसरे मार्ग से जाने का अनुरोध किया और मार्ग के खतरे से भी अवगत कर दिया। महाराज मुस्कराकर उसी सर्पवाले मार्ग पर बढ चले। सर्प के स्थान के समीप पहुँचकर वे 'कायोत्सर्ग ध्यान लगाकर खड़े हो गये। कुछ काल पश्चात् विषधर अपने बिल से निकला और वीर प्रभु को वहाँ पाकर विष की फुफकारें उगलने लगा। सारा वायु-मण्डल विष मिश्रित हो गया। आस पास के पक्षी और कीट-पतंग चीत्कार कर-करके धराशायी होने लगे। परन्तु महाराज पर विष का कुछ भी प्रभाव न हुआ। सर्प ने झुँझलाकर उनके अँगूठे पर काटा। विष की ज्वाला फिर भी उन पर असर न कर सकी। महाराज की शान्त और क्रोध-आदि

से सर्वथा रहित पवित्र मुखमुद्रा को देखकर सर्प पर बड़ा प्रभाव हुआ। उसे अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। पूर्व जन्म में वह एक मुनि था। एक बार उसके पाँव के नीचे एक मेढ़क दबकर मर गया था। इस पर उसके एक शिष्य ने कहा था, 'गुरुजी! आप मेंढक मारने का प्रायश्चित्त क्यों नहीं कर लेते !' इस पर क्रोधित होकर मुनि ने कहा था, 'मूर्ख, मैंने कब कोई मेंढक मारा है !' यह कहकर वह शिष्य को मारने दौड़ा था और मार्ग में पेड़ से टकराकर उसकी मृत्यु हो गई थी। तीव्र क्रोध की वृत्ति के उदय के कारण ही उसे सर्प की योनि प्राप्त हुई थी। इस बोध के उदय हो जाने पर वह सर्प क्रोध-रहित होकर शान्त रहने लगा। और अन्त में शान्त स्थिति में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ।

महाराज की कीर्ति पताका दिग्दिगन्त में फैलती जा रही थी। 'सगम'-नामक एक व्यक्ति अपने द्वेषी स्वभाव-वश अकारण ही उनसे द्वेष करने लगा। एक बार जब वे 'पढ़ाला' ग्राम के समीप तपस्या में लीन थे, वह आया और लगातार छः मास तक महाराज को नाना प्रकार की यातनाएँ पहुँचाता रहा। महाराज सब कुछ प्रतिकार की भावना को मन में स्थान दिये बिना ही, सहज - स्वभाव से सहन करते गये। अनेकश प्रयत्नों के पश्चात थकने पर सगम झुँझलाकर और भी ओछे हथियारों पर उतर आया। उसकी

प्रेरणा से सुन्दर सलोनी, नवयुवतियाँ महावीर के पास आकर रास रचाने और अपने हाव-भाव से उन्हें रिझाने का यत्न करने लगीं। परन्तु महाराज तो खट्टा मीठा सभी कुछ चख चुके थे। कामनाएँ शान्त हो चुकी थीं। ये लावण्यमयी बालिकाएँ काम बाण फेंक-फेंककर और दिव्य संगीत गा गाकर हार गईं। महाराज अपनी जगह अडिग बने रहे। 'संगम' फिर भी अपनी दुष्टता से बाज न आया। उसने महाराज के माता और पिता के मायावी रूप उपस्थित करके उन्हें योग-भ्रष्ट करना चाहा। परन्तु महाराज को अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा वास्तविकता को जानने मे कुछ भी कठिनाई न हुई। अन्त में 'संगम' ने अपनी हार स्वीकार की और वह महाराज के चरणों पर गिरकर अपनी दुष्टता के लिए क्षमा याचना करने लगा। और भी नाना प्रकार के कष्ट उन्हें सहन करने पड़े। अन्ततोगत्वा वैशाख सुदी दशमी को रात के अन्तिम पहर और विजय मुहूर्त में रजिबालुका नदी के तीर पर उन्हें सर्व श्रेष्ठ कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति हुई। कैवल्य ज्ञान के पश्चात् एक बहुत बड़े उत्सव की व्यवस्था की गई। जैन-शास्त्रों में इस उत्सव का अत्यन्त विस्तृत और अलंकारिक वर्णन् पाया जाता है। महाराज का दिव्य उपदेश इस उत्सव की विशेष शोभा था। सभी श्रेणियों के स्त्री-पुरुष, सब प्रकार के राग द्वेष आदि से रहित होकर, भारी

संख्या में उस उत्सव में सम्मिलित और उपदेशामृत पान करके कृत-कृत्य हुए थे।

शास्त्रों में महाराज के इस सर्व प्रथम दिव्य उपदेश का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"यह संसार समुद्र के समान दारुण है और वृक्ष के बीज की तरह उसका मूल कारण कर्म ही है। अपने ही किये हुए कर्मों से विवेक-रहित होकर प्राणी कुँआ खोदनेवाले की भाँति अधोगतिको पाता है, और शुद्ध हृदयवाले पुरुष अपने ही उपार्जित किये हुए कर्मों से महल बाँधनेवाले की तरह ऊर्ध्व गति पाते हैं। अशुभ कर्मों के बन्ध का मूल कारण हिंसा है। इसलिए किसी भी प्राणी की हिंसा कभी न करनी चाहिए। आत्म-पीड़ा के समान दूसरे जीव की पीड़ा को दूर करने की इच्छा रखनेवाले प्राणी को कभी भी असत्य भाषण न करना चाहिए। मनुष्य के बहिःप्राण के समान किसी का बिना दिया हुआ द्रव्य भी न लेना चाहिए, क्योंकि उसका द्रव्य हरण करना बाह्य दृष्टि से उसके मारने के समान ही भयंकर है। इसके अतिरिक्त प्राणी को मैथुन से भी बचे रहना चाहिये, क्योंकि इसमें भी बहुत हिंसा होती है। प्राज्ञ पुरुषों को तो मोक्ष के देनेवाले ब्रह्मचर्य का ही सेवन करना चाहिए। अपरिग्रह का धारण करना चाहिए। परिग्रह का धारण करने से मनुष्य बहुत बोझा ढोनेवाले बैलों के समान क्लान्त होकर अधा-

प्रेरणा से सुन्दर सलोनी, नवयुवतियाँ महावीर के पास आकर रास रचाने और अपने हाव-भाव से उन्हें रिझाने का यत्न करने लगीं। परन्तु महाराज तो खट्टा मीठा सभी कुछ चख चुके थे। कामनाएँ शान्त हो चुकी थीं। ये लावण्यमयी बालिकाएँ काम बाण फेंक-फेंककर और दिव्य संगीत गा गाकर हार गईं। महाराज अपनी जगह अडिग बने रहे। 'सगम' फिर भी अपनी दुष्टता से बाज न आया। उसने महाराज के माता और पिता के मायावी रूप उपस्थित करके उन्हें योग-भ्रष्ट करना चाहा। परन्तु महाराज को अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा वास्तविकता को जानने में कुछ भी कठिनाई न हुई। अन्त में 'सगम' ने अपनी हार स्वीकार की और वह महाराज के चरणों पर गिरकर अपनी दुष्टता के लिए क्षमा-याचना करने लगा। और भी नाना प्रकार के कष्ट उन्हें सहन करने पड़े। अन्ततोगत्वा वैशाख सुदी दशमी को रात के अन्तिम पहर और विजत-मुहूर्त में रजिबालुका नदी के तीर पर उन्हें सर्व श्रेष्ठ कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति हुई। कैवल्य ज्ञान के पश्चात् एक बहुत बड़े उत्सव की व्यवस्था की गई। जैन-शास्त्रों में इस उत्सव का अत्यन्त विस्तृत और अलंकारिक वर्णन पाया जाता है। महाराज का दिव्य उपदेश इस उत्सव की विशेष शोभा था। सभी श्रेणियों के स्त्री-पुरुष, सब प्रकार के राग-द्वेष आदि से रहित होकर, भारी

कोई ठिकाना न रहा। फिर भी उसने यही समझा कि उसका नाम तो जग विदित है। कहीं देखा सुना होगा।

ज्ञान विचार आरम्भ हुआ। महाराज ने एक एक करके इन्द्रभूति के सारे सन्देह निवारण कर दिए। महाराज के अथाह ज्ञान पयोनिधि और जगत द्वैत साम्राज्य को देखकर इन्द्रभूति ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और दीक्षा ले ली। इस प्रकार इन्द्रभूति उनका सर्व प्रथम शिष्य बना। फिर तो अग्नि भूति, वायु भूति, सुधर्माचार्य-आदि शेश दस पण्डित भी अपनी अपनी शकाओं को लेकर आए और वीर प्रभु से सम्यक् समाधान पा पाकर शिष्य बनते चले गए। जैन ग्रन्थों मे इन शिष्यों को महावीर के गणधर कहा जाता है।

पूर्ण ज्ञान लाभ कर, महाराज ने राग द्वेष, काम क्रोध और लोभ-मोह के दावानल मे झुलसे जा रहे ससार के कल्याणार्थ ज्ञान गगा प्रवाहित की। सर्व प्रथम घोषणा उन्होंने इस आशय की की कि प्रत्येक प्राणी जो, अशान्ति और अज्ञान के कारण दु ख भोग रहा है, मेरे उपदेशों से लाभ उठा सकता है, आर्य, म्लेच्छ, दास, दस्यु, जात-पात, प्रान्त और देश का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। सत्य का प्रत्येक जिज्ञासु बिना रोक-टोक मेरे पास आकर अपनी जिज्ञासा प्रकट कर सकता है। इसके प्रसारित होते ही हजारों सत्य की भूखी आत्माएँ महाराज की सेवा में आने

गति को पाता है। इन पाँचों ही कृत्यो के सूक्ष्म और स्थूल ऐसे दो भेद हैं। जो लोग सूक्ष्म का त्याग करने में असमर्थ है, उन्हें स्थूल पापो को अवश्य ही त्याग देना चाहिए।" क्षमा, दया और समता की पवित्र धाराएँ उस उत्सव में सर्वत्र शत एव सहस्र धार रूप में प्रवाहित हो रही थीं। इस उत्सव का आयोजन 'अपाया' नगरी के बाहर किया गया था।

जिस समय स्त्री पुरुष हजारों की सख्या मे भगवान महावीर के दर्शन और समवशरण उत्सव मे सम्मिलित होने जा रहे थे, उसी समय मार्ग मे किसी धनाढ्य के घर पर ग्यारह विद्वान् ब्राह्मण बड़ा भारी यज्ञ करा रहे थे। लोग यज्ञ मण्डप के पास से होकर आगे बढ गये। किसी ने यज्ञ मण्डप की ओर ताका भी नहीं। इससे यज्ञ कर्ता बडे अप्रतिभ हुए। समवशरण-उत्सव से लौटते हुए लोगो के मुख से महाराज की कीर्ति कथा सुनकर तो वे और भी जल-भुन गए। वीर प्रभु की महिमा को जान लेना उनके वश में न था। उन में से इन्द्रभूति नामक एक विद्वान ब्राह्मण अपने पाँच सौ शिष्यो को साथ लेकर महाराज से शास्त्रार्थ करने चला। समीप आने पर उसे देखते ही भगवान् ने कहा—'हे गौतम इन्द्रभूति! आप सुख पूर्वक तो रहे, मार्ग मे कोई कष्ट तो नहीं हुआ?' महाराज के श्रीमुख से अपना नाम सुनकर इन्द्रभूति के आश्चर्य का

आजकल के क्षुद्र, अरपक्ष धर्म प्रचारको के समान हाथ-पाँव और आँखें मटकाकर पर-छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति का तो उनमे सर्वथा ही अभाव था। विश्व - हित साधन करने के लिए ही उनका महिमामय आविर्भाव हुआ था। सत्य के प्रचार मे असत्य और अशिव का आश्रय भला वे कैसे ले सकते थे ? अपने समुदाय की सख्या वृद्धि पर तो उन्होने कभी ध्यान ही नहीं दिया उनका समुदाय सख्या की दृष्टि से रहता भी औरो से पीछे ही था। उन्हें चाह थी तो यही कि जो कोई भी उनकी शरण मे आए उसे सत्य का स्वरूप सम्यक् रूपेण हृदयगम करा दें, जिससे ससार में सुख-शान्ति की निरन्तर अभि-वृद्धि होती रहे। अपने सिद्धान्तों को बलात्कार पूर्वक दूसरे पर ठूँसने की भावना उन्हें छू भी न गई थी। जो चाहता, उनके उपदेश को ग्रहण करता या न करता। शिष्य बनता या न बनता। कोई मान करता है या अपमान ? उन्हें इसका भान भी न होता था। मान सम्मान और हर्ष एव चिन्ता से वे सर्वथा ऊपर उठ चुके थे।

'गोशाल' नामक एक और भी महापुरुष उनके समय में धर्म प्रचार कर रहा था। यह तत्कालीन प्रसिद्ध 'आजीविक सम्प्रदाय' का प्रवर्तक था। कहते हैं कि कैवल्य प्राप्ति से पूर्व जब कि भगवान् महावीर ने किसी को शिष्य बनाना आरम्भ नहीं किया था, 'गोशाल' ने

और उपदेशामृत पान कर, कृत कृत्य होने लगी। उन्होंने धर्म की सत्ता अपने हाथ में न रखी थी। किसी भी व्यक्ति को सत्य का रहस्य बताने के लिए वे सर्वथा उद्यत रहते थे। ब्राह्मण, चाण्डाल, स्त्री और शूद्र-आदि का भेदभाव उनके पास भी न फटकता था। इस प्रकार जब महाराज के शिष्यों की निरन्तर संख्या वृद्धि होती गई और बहुत-से स्त्री-पुरुष दीक्षित हो गये तो उन्होंने श्रावक और श्राविकाओं को उनके धर्म का उपदेश दिया और मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका, ऐसे चतुर्विध संघ की रचना की। गणधरों को भी उनका कर्तव्य और कार्य क्रम समझा दिया। सब प्रकार के व्यवहार, नियम और सिद्धान्त भी निश्चित् कर दिये। इधर भगवान् महावीर का धर्म प्रचार जारी था, उधर भगवान् बुद्ध का धर्म चक्र भी वेग से घूम रहा था। हजारों-लाखों की संख्या में अनुदार, धर्म ध्वजाधारियों के निरंकुश पंजे से निकल-निकलकर मनुष्यों के झुण्ड-के झुण्ड उनके झण्डे के नीचे एकत्रित हो रहे थे। अल्प काल में ही इसके परिणाम स्वरूप रूढिवाद, यज्ञों की पशु - हिंसा और जात पात गत ऊँच नीच के भाव-विनष्ट हो गये और विशुद्ध 'मानव-धर्म' अपने उज्ज्वल एवं गौरवमय रूप में विकसित होता हुआ सर्वत्र शान्ति सुधा बरसाने लगा। भगवान् महावीर की उपदेश शैली भी बड़ी आकर्षक एवं प्रभावपूर्ण थी।

आजकल के क्षुद्र, अल्पज्ञ धर्म प्रचारकों के समान हाथ-पाँव और आँखें मटकाकर पर-छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति का तो उनमें सर्वथा ही अभाव था। विश्व-हित साधन करने के लिए ही उनका महिमामय आविर्भाव हुआ था। सत्य के प्रचार में असत्य और अशिव का आश्रय भला वे कैसे ले सकते थे? अपने समुदाय की संख्या वृद्धि पर तो उन्होंने कभी ध्यान ही नहीं दिया उनका समुदाय संख्या की दृष्टि से रहता भी औरों से पीछे ही था। उन्हें चाह थी तो यही कि जो कोई भी उनकी शरण में आए उसे सत्य का स्वरूप सम्यक् रूपेण हृदयंगम करा दें, जिससे संसार में सुख शान्ति की निरन्तर अभि-वृद्धि होती रहे। अपने सिद्धान्तों को बलात्कार पूर्वक दूसरे पर ठूँसने की भावना उन्हें छू भी न गई थी। जो चाहता, उनके उपदेश को ग्रहण करता या न करता। शिष्य बनता या न बनता। कोई मान करता है या अपमान? उन्हें इसका भान भी न होता था। मान सम्मान और हर्ष एवं चिन्ता से वे सर्वथा ऊपर उठ चुके थे।

'गोशाल' नामक एक और भी महापुरुष उनके समय में धर्म प्रचार कर रहा था। यह तत्कालीन प्रसिद्ध 'आजीविक सम्प्रदाय' का प्रवर्तक था। कहते हैं कि कैवल्य-प्राप्ति से पूर्व जब कि भगवान् महावीर ने किसी को अपना शिष्य बनाना आरम्भ नहीं किया था, 'गोशाल' ने

महावीर से मिलकर शिष्य होने की इच्छा प्रगट की थी। परन्तु महाराज ने अस्वीकार कर दिया था। फिर भी गोशाल ने भगवान् महावीर को अपना गुरु प्रसिद्ध करके भिक्षाचर्या और प्रचार-कार्य आरम्भ कर दिया। गोशाल भगवान् महावीर से किसी भावी घटना के विषय में पूछता। जब उनका कथन पूरा पूरा घटित हो जाता तो गोशाल उसके आधार पर अनेकश अनुमान लगाता। इस प्रकार उसने यह सिद्धान्त ही बना लिया कि जो कुछ होने वाला है, वह नियत है और वही होता है। उसका यह सिद्धान्त 'नयतिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। आगे चलकर यही गोशाल भगवान् महावीर का प्रति-द्वन्दी भी बन गया था। यद्यपि आजीविक सम्प्रदाय का चिन्ह तक आज कहीं शेष नहीं है, परन्तु अपने उदयकाल में उसने पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की थी और उसकी संख्या भी महावीर के अनुयायियों की अपेक्षा अधिक थी।

प्रचार - यात्रा करते करते महाराज राजगृह नगर में पधारे। उनके शुभागमन का सम्वाद पाकर वहाँ का राजा श्रेणिक (बिम्बसार) समारोह एवं अपने पुत्रों सहित उनकी वन्दना करने को आया। प्रभु की प्रदक्षिणा करके उन्होंने भक्ति-भावपूर्वक नमन किया। भगवान् ने उन्हें सम्यक्त्व का उपदेश दिया जिस के फल स्वरूप श्रेणिक ने सम्यक्त्व और कुमारों ने श्रावक धर्म स्वीकार किया।

लौटकर घर आने पर श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार ने अपनी माता धरणी देवी और पिता से प्रार्थना की—'मैं अब इस ससार का अनन्त—दुःख प्रद समझकर चकित हो रहा हूँ। इसके बन्धन से मुक्त होने के लिए मुझे श्री वीर प्रभु की शरण में आने दो।' अनेकशः समझाने पर भी वह न माना। पिता ने कहा—कुछ समय तक राज-सुख भोग लो, फिर दीक्षा ले लेना।' कुमार इस पर राजी हो गया। तब राजा ने एक बड़ा उत्सव करके कुमार को राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त किया। तत्पश्चात् हर्षातिरेक के वशीभूत हो, राजा ने कुमार से पूछा—'अब तुझे और किस बात की आवश्यकता है ?' कुमार बोला—'पिताजी ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हुए हैं तो मुझे दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा दीजिए।' लाचार होकर पिता ने आज्ञा दे दी। कुमार ने सहर्ष जाकर वीर प्रभु के श्री चरणों में आश्रय लिया। कुछ काल पश्चात् प्रभु के उपदेश से प्रतिबोध पाकर श्रेणिक का दूसरा पुत्र नन्दीषेण भी दीक्षा लेकर भगवान् महावीर का शिष्य बन गया।

कई स्थानों पर भ्रमण करते हुए महाराज 'क्षत्रिय कुण्ड' नगर में पधारे। उनके आगमन को जान, नगर-निवासी भारी श्रद्धा-भक्ति और समृद्धि सहित दर्शन एव उपदेश ग्रहणार्थ उमड़ पड़े। उसी समय महाराज के जामाता जामालि एव सुपुत्री प्रियदर्शना भी प्रभु की वन्दना

को आए। और उपदेश से प्रबोध पाकर दोनों ही दीक्षा ग्रहण कर के महाराज की सेवा में रहने लगे। जामालि के साथ पाँच सौ पुरुषों और प्रियदर्शना के साथ एक हजार स्त्रियों ने भी दीक्षा ग्रहण की थी।

अनेक स्थानों में परिभ्रमण करते हुए महाराज 'पृष्ठ-चम्पा' नगरी को पधारे। वहाँ के राजा साल और उनके लघुभ्राता महासाल वन्दना को आये और महाराज की देशना सुन, राज्य-भार कुमार गागली को सौंपकर मुनि-धर्म में दीक्षित हो गए। कुछ काल पश्चात् श्री वीर प्रभु की आज्ञा से गौतम स्वामी साल और महासाल सहित पुन पृष्ठचम्पा नगरी को गए। उनके उपदेश को ग्रहण करके गागली भी अपने पुत्र को राज्य भार सौंपकर मुनि धर्म में दीक्षित हो गये। इस प्रकार दिनों-दिन अनेक गण्य मान्य राजा - महाराजा, राजकुमार और सम्भ्रान्त सेठ-साहुकार महाराज के अनुगामी होते चले गए।

भगवान् महावीर के पूर्व जो जैन सम्प्रदाय प्रचलित था, वह निगट्ठ नाम से प्रसिद्ध था। उनके समय के प्रधान निगट्ठ केशी कुमार-आदि थे, जो कि सभी अपने आपको पार्श्वनाथ की परम्परा का अनुगत बताते थे और अहिंसा, सत्य, अस्तेय एव अपरिग्रह रूप धर्म का पालन करते थे। महावीर ने इसमें दो बातों को और जोड़ दिया। एक तो अचेलत्व अर्थात् नग्नत्व और दूसरे

ब्रह्मचर्य। अनुमान है कि वस्त्र और स्त्री के विषय में पूर्व-प्रचलित सम्प्रदाय में अवश्य ही कोई खराबी आगई होगी और उसके निवारण के लिए ही भगवान् महावीर ने इन दो सिद्धान्तो को प्रचारित किया होगा। भगवान् पार्श्वनाथ के अनुगतो ने भी प्राचीन और नवीन भिक्षुओ की एक बड़ी भारी सभा करके इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया था। आगे चलकर भद्रबाहु के समय में फिर मतभेद उठ खड़े हुए और तब से जैन साधु श्वेताम्बर और दिगाम्बर इन दो दलो में विभक्त हो गये।

भगवान् महावीर ने जो सुधार और सिद्धान्त प्रचारित किये थे, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१—जात पात और छूत छात का भेद हटाकर मनुष्यमात्र के लिये, शूद्र अति शूद्र के लिए भी भिक्षु और गुरु पद प्राप्ति का मार्ग खोल दिया। श्रेष्ठता का आधार जन्म नहीं, अपितु पवित्रगुण कर्म और स्वभाव को निश्चित किया।

२—पुरुषों के समान ही स्त्रियों के लिए भी जीवन, विद्या प्राप्ति और सदाचार पालन की पूर्ण ` . को स्वीकार किया और उनके लिये भी गुरुपद प्राप्ति आध्यात्मिक मार्ग खोल दिया।

३—लोक भाषा में तत्व-ज्ञान और आचार-करके प्रचलित भाषा का महत्व बढ़ाया और योग्य

उज्ज्वल था, इसका विवेचन करते हुए विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है—

"महावीर ने भारतवर्ष को ऊँचे स्वर मे मोक्ष का सन्देश दिया। उन्होंने कहा कि धर्म केवल सामाजिक रूढि नहीं है, बल्कि वास्तविक सत्य है। मोक्ष केवल साम्प्रदायिक बाह्य क्रिया काण्ड से नहीं मिल सकता, प्रत्युत सत्य धर्म के स्वरूप का आश्रय लेने से प्राप्त होता है। धर्म के अन्तर्गत मनुष्य और मनुष्य के बीच में रहनेवाला भेद भाव कभी स्थायी नहीं रह सकता। कहते हुए आश्चर्य होता है कि महावीर की इस शिक्षा ने समाज के हृदय में जड़ जमाकर पूर्व संस्कारो से उठी हुई भावनाओ को बहुत शीघ्र नेस्त नाबूद करके सारे देश को वशीभूत कर लिया था। महावीर के पश्चात् भी बहुत काल तक क्षत्रिय लोगो के उपदेशो के प्रभाव से ब्राह्मणों की सत्ता अभिभूत रही थी।"

अशोक

'मानव-धर्म' के इतिहास में सम्राट् अशोक का नाम सदा विशेष आदर से स्मरण किया जायेगा। धर्म, - प्रेम और धर्म प्रसार का जो अद्भुत उदाहरण उन्होने संसार के सामने प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र अभी तक सर्वथा दुर्लभ है। एक नहीं, अनेक दृष्टियों से सम्राट् अशोक का शासन काल तथा प्रबन्ध चातुर्य्य इतिहास-विशेषज्ञ और धर्म धुरीण विद्वानों के लिए विशेष गौरव, आदर एवं ऊहा-पोह का प्रिय विषय बना हुआ है।

सम्राट् अशोक मगधपति महाराजा बिन्दुसार के पुत्र और ईसा से ३०० वर्ष पूर्व अपने युद्ध कौशल, प्रबन्ध-पटुता, सुशासन एवं परम प्रताप से संसार को आश्चर्य चकित कर देनेवाले महाराजा चन्द्रगुप्त मौर्य्य के प्रपौत्र थे। भारतीय इतिहास में मगध राज्य का उल्लेख कई स्थानों पर पाया जाता है। किसी समय प्रसिद्ध अत्याचारी नरेश जरासिन्ध मगध का शासक था और प्रख्यात पाण्डव सेनापति भीम ने उसे मल्ल युद्ध में पछाड़कर, उसके

बेटे को मगध के सिंहासन पर अभिषिक्त किया था। सम्राट् चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और अशोक के समय में संसार ने भारत के विगत वैभव एवं गौरव के अनेक भव्य दृश्य देखे थे। उनके यत्न से भारतीय वीरता, विद्वत्ता एवं आध्यात्मिकता की श्रेष्ठता को अन्य देशों ने भी नत-मस्तक होकर स्वीकार कर लिया था।

महाराजा बिन्दुसार ने कई विवाह किये थे। अन्तिम विवाह चम्पा ग्राम के एक गरीब ब्राह्मण की कन्या से हुआ था। बिन्दुसार की अन्य रानियों ने सौतिया डाहवश इस ब्राह्मण कन्या को नापितानी' अर्थात् 'नाई की पुत्री' के नाम से प्रसिद्ध कर दिया था। यह नव - विवाहिता कन्या भाग्य की कुछ ऐसी धनी थी कि अल्प काल में ही राजा और प्रजा सभी के मन में बस गई। उसकी सर्व प्रियता से प्रभावित होकर बिन्दुसार ने उसे अपनी पटरानी बना लिया। कुछ काल पश्चात इसी रानी की कोख से दो पुत्र उत्पन्न हुए। पहिले का नाम अशोक और दूसरे का नाम वीताशोक रखा गया।

शैशव काल पार करके बाल - अशोक अपने अन्य भाइयों के साथ विद्या ग्रहण करने लगा। विद्या-प्राप्त में उसकी गहरी रुचि थी। अपने भाइयों की था। अपेक्षा वह बुद्धिमान और परिश्रमी भी अधिक आचार्य उससे प्रसन्न था। भाई उसकी योग्यता को

मानते और सराहते थे।

होने को तो अशोक युवराज नियत हो गया, परन्तु राजा के मन में उसके प्रति कोई विशेष आकर्षण उत्पन्न न हो सका। उनकी राय में अशोक को युवराज बनाने में आचार्य ने भारी गलती की थी। आचार्य के व्यापक प्रभाव के कारण राजा ने अपना विरोध प्रकट तो न होने दिया, परन्तु हृदय से वह उसे हटाने का अवसर तलाश करने लगा। कुछ काल पश्चात् राज्य के तक्षशिला प्रान्त में विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। महाराज ने उसे शान्त करने के लिए अशोक को भेजा। अशोक ने उसे बड़ी बुद्धिमत्ता और वीरता के साथ शीघ्र ही शान्त कर दिया। उसकी इस अपूर्व सफलता ने महाराज का हृदय परिवर्तित कर दिया। बहुत दिन तक अशोक तक्षशिला का राज्य-प्रतिनिधि रहा। उस समय तक्षशिला का विश्वविद्यालय आयुर्वेदीय शिक्षा के लिए जगत् विख्यात था। अशोक के उद्योग से इस विश्वविद्यालय की प्रभूत उन्नति हुई। सारे भारतवर्ष से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्र आकर इस विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ करते थे।

अशोक के राज्य का जितना अधिक विस्तार हुआ था, उतना शायद ही किसी अन्य भारतीय सम्राट् का हुआ हो। उत्तर में हिमालय और हिन्दुकुश पर्वत एवं सारा अफग़ानिस्तान, बलूचिस्तान और सिन्ध उसके राज्य में

था। काश्मीर की आधुनिक राजधानी 'श्रीनगर' को अशो
ने ही आबाद किया था। पूर्व में सारा बंगाल, दक्षिण
कलिंग, आन्ध्र और पूर्वी किनारे का सारा दक्षिण प्रान
अशोक के आधीन था। उसने सारे साम्राज्य को विभि
भागों में विभाजित कर रखा था। प्रत्येक भाग में ए
राज प्रतिनिधि राज्य करता था, जो कि राज्य परिवार क
कोई व्यक्ति अथवा सम्राट् का पूर्ण विश्वस्त हुआ करत
था।

धार्मिक अनुष्ठानों में अशोक की विशेष रुचि थी
नित्य कई हजार साधु और ब्राह्मण अशोक के भण्डार
भोजन किया करते थे। कहना चाहिए कि उन दिन
अशोक को दुनियादारी का अनुभव कम था और वह यह
जानता था कि इन बे-शुमार और बेकार पेटू लोगों क
भोजन कराने से कैसी-कैसी हानियाँ हो रही हैं। एक दिन
जबकि बहुत से साधु और ब्राह्मण भोजन कर रहे थे
अशोक ने अपने महल के ऊपर से देखा कि जब उन
पेटुओं के पेट भर गये तो शेष मिठाइयाँ वे कपड़ों में बाँध
कर चलते बने। इससे उसके हृदय पर बड़ी चोट लगी
वह यह सोच ही रहा था कि उसने मार्ग में एक बौद
भिक्षु को भिक्षा पात्र हाथ में लिए हुए जाते देखा। भिक्षु
को बुलाकर अशोक ने पास बैठाया। और देर तक धर्म
चर्चा करता रहा। अब अशोक के सामने दो दृश्य थे, एक

तो बड़े पेटवाले महन्तों साधुओं और ब्राह्मणों का, जोकि धर्म की आड़ में शिकार खेल रहे थे और दूसरा इस शान्त मना भिक्षु का। धीरे-धीरे अशोक को अनुचित लाभ उठानेवाले साधुओं आदि से घृणा हो गई और वह विधिपूर्वक बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया।

बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर अशोक ने उसमें नये सिरे से जान डाल दी। दान की प्रणाली बदल दी और स्वयं बौद्ध-भिक्षुओं का संरक्षक होना स्वीकार कर लिया। स्थान स्थान पर नये नये बौद्ध संघों और विहारों की स्थापना होने लगी।

भारत में सर्वत्र बौद्ध-धर्म का प्रसार होने पर भी कलिंग देश में सनातन धर्म का ही प्रचलन था। वहाँ का राजा भी कट्टर पुरातन-पन्थी था। अशोक ने कलिंग देश में बौद्ध-धर्म प्रसार के कई यत्न किये, परन्तु जब कुछ सफलता न मिली तो उसने भारी लश्कर लेकर कलिंग पर चढ़ाई कर दी। चार मास तक घमासान युद्ध होता रहा। अशोक को भारी कठिनाइयों एवं विपत्तियों का सामना करना पड़ा। इसी बीच में उसकी सेना में मरी फैली और हजारों व्यक्ति मर गये। जैसे तैसे उसने कलिंग विजय किया। युद्ध के समाप्त होते ही उसने भविष्य में किसी से युद्ध न छेड़ने की शपथ ले ली। कहा जाता है कि इस युद्ध में एक आदमी मारे गये, डेढ़ पकड़े गए और

महामारी के भेंट चढ़ गए थे। इस अवसर पर अशोक ने अपने ये उद्‌गार लिपिबद्ध कराये थे कि—

'वास्तविक विजय वह है, जो मनुष्य अपने ऊपर धर्म-बल से प्राप्त करता है। तलवार के जोर से देशों को जीतना और विजय प्राप्त करना राजाओं का धर्म नहीं है। यदि विवश होकर उन्हें युद्ध करना ही पड़े तो उन्हें धैर्य और सहिष्णुता से काम लेना चाहिए, क्योंकि वास्तविक विजय वही है जो धैर्य और धर्म से प्राप्त की जाती है।' पाखण्डी जनों ने भी स्वार्थ सिद्धि की घृणित भावनाओं से प्रेरित होकर बौद्ध-धर्म प्रवेश आरम्भ कर दिया। इस प्रकार सज्जनों के साथ साथ दुर्जनों की भी एक अच्छी खासी संख्या बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होकर धर्म संघ और भगवान् बुद्ध की बदनामी का भी कारण बन गई। जिस बुराई की रोक-थाम के लिये बौद्ध धर्म प्रकट हुआ था, अब वह स्वयं ही उसमें लिप्त होने लगा। यदि कोई इन पाखण्डियों को समझाने का यत्न करता तो वे झगड़ा-फिसाद करने को उद्यत हो जाते।

पटने के संघ का महन्त मोग्गलिपुत्र बड़ा सज्जन और धार्मिक विद्वान था। अशोक के हृदय में उसके लिए विशेष श्रद्धा-भक्ति थी। महन्त ने पहले तो अशोक के प्रयत्नों से बौद्ध-संघों की वृद्धि और उन्नति को देखकर आ-घुसनेवाली बुराइयों और पाखण्डों से धर्म की

रक्षा का यत्न किया, परन्तु इस कार्य के दु साध्य होने और ससार मे विरक्ति के बढ जाने के कारण वह एकान्त वास के लिए गगा पार के पहाड़ो में चला गया। अशोक को इससे बड़ा खेद हुआ। बौद्ध सघो मे भी भारी अव्यवस्था फैल गई। अशोक ने अपने एक प्रमुख राज्य कर्मचारी को परिस्थिति के सुधार के लिए भेजा, परन्तु पाखण्डी साधुओं ने उसे आडे हाथो लिया और भारी फिसाद खड़ा कर दिया। किसी ने भी उस बेचारे की बात न सुनी। अत्यन्त निराशा कुछ विशेष परिस्थितियों में मनुष्य को पागल बना दिया करती है और कई अवस्थाओं में निराश मनुष्य अत्यन्त वीर और पराक्रमी बन जाया करता है। आवेश मे आकर अशोक ने एक बौद्ध भिक्षु के, जोकि बहुत अधिक शरारत कर रहा था, दो टुकडे करा दिए। अब तो सुलझने के स्थान पर समस्या और भी उलझ गई। लोगो ने यही समझा कि अशोक के दूत ने जो कुछ किया, वह अवश्य ही अशोक के इशारे पर किया है। इससे सर्वत्र अशोक की घोर निन्दा होने लगी। अशोक को जब यह समाचार मिले तो उसे बड़ा खेद हुआ। उसने अपने अन्तरात्मा से प्रश्न किया—'क्या मैं बौद्ध-भिक्षु के वध का दोषी ठहराया जा सकता हूँ ?' जब अन्तरात्मा ने कोई समुचित उत्तर न दिया और मानसिक अशान्ति ने अशोक को बेचैन कर दिया तो उसने सभी

प्रमुख बौद्ध-भिक्षुओं को बुलाकर पूछा कि क्या वे वास्तव में अशोक को बौद्ध - भिक्षु के वध के लिए उत्तरदायी समझते हैं? अशोक का हृदय उस समय भीषण खेद और अनुताप से दग्ध हुआ जा रहा था। बड़ी कठिनाई से भर्राई हुई आवाज में वे इतना ही कह सके और अपने स्थान पर बैठ गये। भिक्षु अपनी-अपनी व्यवस्थाएँ देने लगे तो ज्ञात हुआ कि वे आपस में सहमत नहीं हैं। थोड़े से भिक्षु तो अशोक को अपराधी कहते थे और अधिकांश निरपराध बताते थे। कोई निर्णय न हो सका तो अशोक ने ऊँची और दर्द - भरी आवाज में कहा— 'प्रत्येक अवस्था में इस अपराध का प्रायश्चित्त आवश्यक है। एक महात्मा का खून हुआ है, इसका फल किसी एक को भुगतना ही चाहिए। भिक्षु - मण्डल में निस्तब्धता छा गई। किसी किसी ने कुछ बोलना भी चाहा, परन्तु कोई शक्ति उन्हें बोलने से रोक रही थी। प्रजा ने जब यह समाचार सुना तो वह भी सन्नाटे में आ गई। अशोक नेकी और सदाचार का मूर्त - रूप था और सर्वप्रिय प्रजा-पालक। 'वह एक बौद्ध-भिक्षु के वध का दोषी है।' किसी की भी समझ में यह बात न आती थी। सभी पूछते थे— 'आखिर अशोक एक महात्मा को क्यों मरवाता? अशोक की अपनी दशा भी विचित्र थी। वह स्वयं न जानता था कि उसने कोई अपराध किया है। एक सर्वथा काल्पनिक

अपराध उसके ऊपर आरोपित किया जा रहा था। अन्त में निश्चय हुआ कि बनवासी महन्त मोगलिपुत्र से निर्णय कराया जाए। मोगलिपुत्र को बुलाया गया और उसने विस्तृत रूप से जाँच पड़ताल करके अशोक को सर्वथा निरपराध घोषित कर दिया।

इस घटना के कारण बौद्धों में वृद्धि पा रही आपा धापी और गड़बड़ी सर्वथा समाप्त हो गई और गम्भीरता-पूर्वक धर्म के प्रचार एवं अनुष्ठान की योजनाएँ होने लगीं। अशोक और महन्त मोगलिपुत्र के सम्मिलित प्रयत्नों से एक 'महासभा' की स्थापना की गई। अशोक की हार्दिक इच्छा के अनुसार ढोंगी और दम्भी भिक्षुओं के लिए इस महासभा मे कोई स्थान न था। केवल वे ही व्यक्ति बौद्ध - भिक्षुओं में रह सकते थे, जोकि सब प्रकार के शारीरिक कष्ट-सहन करके भी धर्म प्रचार में सहायक हो सकें। जो लोग धर्म के लिए किसी भी प्रकार का त्याग, तप एवं बलिदान न कर सकते थे, वे निकालकर बाहिर कर दिए गए। महन्त मोगलिपुत्र की अध्यक्षता में एक बड़ा भारी सम्मेलन हुआ और उसमे महासभा के पदाधिकारियों का निर्वाचन होकर धर्म प्रचार का कार्य द्रुत गति से आरम्भ हो गया।

महाराजा अशोक की उच्च धार्मिक योग्यता के कारण सुयोग्य कार्यकर्ताओं के निर्वाचन में जरा भी कठिनाई

न हुई और उत्तरोत्तर भिक्षु - मण्डल की उन्नति और धर्म-भाव की वृद्धि होने लगी। जहाँ दृढ प्रतिज्ञ, शिव सकल्प-निष्ठ और आचारवान कार्यकर्त्ता मौजूद हो, सफलता वहाँ स्वयमेव दौड़ी चली आती है। कतिपय धर्मात्मा भिक्षुओं के कुछ मास के कार्य से ही सर्वत्र धूम मच गई। तब अशोक की इच्छा भारत से बाहिर भी बौद्ध - धर्म का सन्देश पहुँचाने की हुई। इसके और भी सुयोग्य और आचारवान् प्रचारक निर्वाचित किए गए और उन्हें स्वदेशों में तथा भारत के दुगम स्थानों में प्रचारार्थ भेजा गया, जिससे वे अपने-आपको वहाँ आदर्श बौद्ध धर्मी के रूप में उपस्थित करें और वहाँ के निवासियों को बौद्ध - धर्म की शरण में लावें। लका, बरमा, सिंगापुर, जापान, चीन, तिब्बत, अफगानिस्तान, ईरान और यूनान-आदि देशों में अशोक के प्रचारकों को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। यह अशोक के धर्म - प्रचार का ही परिणाम है कि आज भी एक-तिहाई ससार बौद्ध- धर्म का अनुयायी है। बौद्ध - धर्म के प्रशसकों तथा शुभचिन्तकों की सख्या तो और भी अधिक पाई जाती है।

अशोक के धर्म-भाव का प्रभाव उनके पुत्र और युव-राज महाराजकुमार अकंपादीय महेन्द्र पर बडा गहरा पड़ा और वह पिता से अनुमति लेकर भिक्षु बन गया। भिक्षु महेन्द्र ने धर्म प्रचारार्थ लका की ओर प्रस्थान

किया। जब लंका के राजा को सूचना मिली कि भारत का महाराजकुमार महेन्द्र योगी बनकर लंका आया है तो वह नाना विधि भेंट सामग्री लेकर उस युवक वैरागी की सेवा में उपस्थित हुआ। महेन्द्र ने सामग्री पर एक उचटती सी निगाह डाली और मुस्कराकर सांसारिक भोगैश्वर्य के प्रति अपनी विरक्ति को प्रकट कर दिया। लंकापति के बार बार किसी सेवा के लिए अनुरोध करने पर महेन्द्र ने कहा—'राजन्! एक ही काम में मेरी सब सेवा और प्रसन्नता आ जाती है, वह यह कि आप भी भगवान बुद्ध की शरण में आ जायें।' लंकाधीश पर इसका अद्भुत प्रभाव हुआ और उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। कुछ काल में ही लंका में बौद्ध धर्म सर्व-प्रिय हो गया। भगवान् राम ने शस्त्र बल से लंका को विजय किया था। योगी महेन्द्र ने उसे पुनरपि धर्म-बल से जीता और उसे भारतीयता का समान साझीदार बना दिया।

इधर महेन्द्र की बहन महाराजकुमारी संघ - मित्रा पर भी वैराग्य का गहरा रंग चढ़ा और वह भी भिक्षुणी बन गई। महेन्द्र ने उसे भी लंका नरेश द्वारा निमन्त्रण भिजवाकर धर्म प्रचारार्थ लंका बुलवा लिया। महारानी लंका ने संघमित्रा से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। स्त्रियों और पुरुषों के पृथक् पृथक् संघों की स्थापना की गई और धूम से विधिवत् धर्म प्रचार होने लगा।

न हुई और उत्तरोत्तर भिक्षु - मण्डल की उन्नति और धर्म-भाव की वृद्धि होने लगी। जहाँ दृढ़-प्रतिज्ञ, शिव-सकल्प-निष्ठ और आचारवान् कार्यकर्त्ता मोजूद हो, सफलता वहाँ स्वयमेव दौड़ी चली आती है। कतिपय धर्मात्मा भिक्षुओ के कुछ मास के कार्य से ही सर्वत्र धूम मच गई। तब अशोक की इच्छा भारत से बाहिर भी बौद्ध - धर्म का सन्देश पहुँचाने की हुई। इसके और भी सुयोग्य और आचारवान् प्रचारक निर्वाचित किए गए और उन्हे स्वदेशो में तथा भारत के दुगम स्थानो मे प्रचारार्थ भेजा गया, जिससे वे अपने आपको वहाँ आदर्श बौद्ध धर्मा के रूप में उपस्थित करें और वहाँ के निवासियों को बौद्ध - धर्म की शरण में लावें। लका, बरमा, सिगापुर, जापान, चीन, तिब्बत, अफगानिस्तान, ईरान और यूनान आदि देशो में अशोक के प्रचारको को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। यह अशोक के धर्म - प्रचार का ही परिणाम है कि आज भी एक तिहाई ससार बौद्ध- धर्म का अनुयायी है। बौद्ध - धर्म के प्रशसकों तथा शुभचिन्तकों की सख्या तो और भी अधिक पाई जाती है।

अशोक के धर्म-भाव का प्रभाव उनके पुत्र और युव-राज महाराजकुमार अर्कपादीय महेन्द्र पर बड़ा गहरा पड़ा और वह पिता से अनुमति लेकर भिक्षु बन गया। भिक्षु महेन्द्र ने धर्म प्रचारार्थ लका की ओर प्रस्थान

किया। जब लंका के राजा को सूचना मिली कि भारत का महाराजकुमार महेन्द्र योगी बनकर लंका आया है तो वह नाना विधि भेंट सामग्री लेकर उस युवक वैरागी की सेवा में उपस्थित हुआ। महेन्द्र ने सामग्री पर एक उचटती सी निगाह डाली और मुस्कराकर सांसारिक भोगैश्वर्य के प्रति अपनी विरक्ति को प्रकट कर दिया। लंकापति के बार बार किसी सेवा के लिए अनुरोध करने पर महेन्द्र ने कहा—'राजन्! एक ही काम में मेरी सब सेवा और प्रसन्नता आ जाती है, वह यह कि आप भी भगवान बुद्ध की शरण में आ जायें।' लंकाधीश पर इसका अद्भुत प्रभाव हुआ और उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। कुछ काल में ही लंका में बौद्ध धर्म सर्व-प्रिय हो गया। भगवान् राम ने शस्त्र बल से लंका को विजय किया था। योगी महेन्द्र ने उसे पुनरपि धर्म बल से जीता और उसे भारतीयता का समान साझी दार बना दिया।

इधर महेन्द्र की बहन महाराजकुमारी संघ-मित्रा पर भी वैराग्य का गहरा रंग चढ़ा और वह भी भिक्षुणी बन गई। महेन्द्र ने उसे भी लंका-नरेश द्वारा निमन्त्रण भिजवा-कर धर्म प्रचारार्थ लंका बुलवा लिया। महारानी लंका ने संघमित्रा से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। स्त्रियों और पुरुषों के पृथक्-पृथक् संघों की स्थापना की गई और धूम से विधिवत् धर्म-प्रचार होने लगा।

(लंका) तक रहनेवाली चोल, पाण्ड्या, सतिपुत्र, केरल पुत्र आदि राज्य की सब जातियो मे तथा सीमावर्ती यूनान के राजा एण्टीओकस और उसके निकटस्थ अन्य राज्यो मे सर्वत्र दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध किया गया है—मनुष्य-चिकित्सा और पशु चिकित्सा। जिन स्थानो पर मनुष्यो और पशुओं के उपयोग में आनेवाले पौदे- नहीं हैं, वहाँ वे बाहर से आये और लगाये गये हैं। प्रत्येक स्थान पर मनुष्यों और पशुओ के लिये कुवे खुदवाये गये हैं और वृक्ष लगाये गये हैं।

३—देवप्रिय प्रियदर्शी राजा कहते हैं—अपने राज्या- रोहण के बारहवे वर्ष में मैंने इस प्रकार आदेश दिये हैं कि मेरे राज्य में सर्वत्र राज्याधिकारी पॉच वर्ष में एक बार एक वृहद् सम्मेलन मे एकत्रित होकर निम्न शिक्षाओ का प्रचार करे.—

'अपने माता पिता, मित्रो, साथियो और सम्बन्धियो की धर्मयुत सेवा करना अच्छा और उचित है। ब्राह्मणों और श्रमणों को भिक्षा देना, प्राणियों के जीवन का सत्कार करना और अपव्यय तथा कटु वचन से बचना अच्छा और उचित है। बौद्ध सघ इस प्रकार के धर्म दूतों को नियुक्त करेगा और उन पर निगाह रखेगा।'

४—सैकड़ो वर्ष से पशु वध होता आ रहा है। माता- पिता और ब्राह्मणो का कोई आदर सत्कार नहीं करता।

अब डंका बजाकर मैं उस धर्म की घोषणा करता हूँ, जो कि नष्ट हो गया था। मैं पशु वध का निषेध करता हूँ। मन्दिरों की प्रतिष्ठा करने का आदेश देता हूँ। मेरी सन्तति भी इसके अनुसार आचरण करती रहेगी।

५—धर्म करना कठिन है, इसलिए मैंने धर्मोपदेशक नियुक्त कर दिये हैं, जो कि नीच और ऊँच, पापी और पतित आदि सभी से मिलकर उन्हें धर्माचरण की शिक्षा देंगे। वे यवन, कम्बोज, गान्धार, सौराष्ट्र और अन्य पिछड़ी हुई जातियों से भी मिलेंगे और उन्हें सन्मार्ग बतायेंगे।

६—अब तक ऐसा नहीं हो सका, परन्तु मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक समय, चाहे मैं महल में बैठा हूँ, या सवारी में, भोजन कर रहा हूँ या आराम, परन्तु प्रजा की पुकार को तुरन्त सुन सकूँ।

७—चाहे किसी प्रकार का साधु हो, कोई उसे कष्ट न दे, उन सब का यत्न सदाचार प्रसार के लिए है।

८—पहिले राजा लोग जुए और शिकार से अपना मनोरञ्जन किया करते थे। परन्तु मैंने विद्वानों के परामर्श से अपने मनोरञ्जन का और ही उपाय किया है, वह यह कि ब्राह्मणों, श्रमणों और वीतराग विद्वानों से मिलना, सोना दान करना, साम्राज्य और प्रजा का हित चिन्तन करना, धर्म पर चलना और धर्म को सब से प्यारा समझना।

जाने के बाद इस संसार को छोड़ा। हरिश्चन्द्र-जैसे आदर्श नरेश को काशी में बिकना और एक-मात्र पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु का दुःख-सहन करना पड़ा। अशोक भी, जिसे कि धर्म और न्याय का मूर्त रूप कहना चाहिए, भी इन सदमों की मार से सुरक्षित न रह सका। यह कहना तो कठिन है कि अशोक के मन पर इन सदमों की क्या प्रतिक्रिया हुई होगी, परन्तु दैव की कठोर-हृदयता को सामने रखा जाए तो कहना पड़ता है कि मानवी हृदय को अवश्य ही इन सदमों की मार से टूट जाना चाहिए।

भिक्षु होने के कुछ काल पश्चात् ८२ वर्ष की आयु में अशोक का देहावसान हो गया। उसने कुल ४१ वर्ष तक अत्यन्त योग्यता, वीरता और उदारतापूर्वक शासन किया।



ईसा

ईसा के जन्म काल के नाम से आज कल ईस्वी संवत् प्रचलित है। फिर भी यह विषय विवाद ग्रस्त है। चेम्बर की 'इन्साइक्लोपीडीया' के अनुसार ईसा का जन्म ईस्वी संवत् से कम-से-कम चार वर्ष पहिले होना स्थिर किया गया है। एप्लेटन की 'न्यू इन्साइक्लोपीडीया' (Appleton's New Encyclopedia) के अनुसार यह काल छ वर्ष पूर्व होना चाहिए। परट महोदय ने अपनी पुस्तक 'ट्रेजरी ऑफ बाइबिल नॉलिज' (The treasury of Bible Knowledge) पृष्ठ १६१ में यही समय सात वर्ष पहिले स्थिर किया है। कुछ लोग इस काल सम्बन्धी गड़बड़ी तथा ऐसी ही कुछ अन्य बातों को आधार बनाकर ईसा के ऐतिहासिक अस्तित्व से ही इन्कार करते हैं।

श्री काहनचन्द वर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्राइस्ट ए मिथ' (Christ a Myth) में यही सिद्ध किया है कि ईसा कोई ऐतिहासिक पुरुष कभी हुआ ही नहीं।

ईसा नाम का कोई ऐतिहासिक व्यक्ति कभी पैदा हुआ है कि नहीं, इस विषय मे मैं इस समय कुछ कहना नहीं चाहता। ईसाई विद्वान जो कुछ ईसा के बारे मे बता रहे हैं, व्यावहारिक दृष्टि से हम उसे मानने के लिये मजबूर हैं। इसी दृष्टिकोण को अपना कर इस पुस्तक की रचना की गई है। ईसाई विद्वानो से भिन्न, ईसा के सम्बन्ध मे जो कतिपय विचार-धारायें प्रचलित हैं, वे संक्षेपत इस प्रकार हैं—

१—क्योंकि बाइबिल मे भगवान् बुद्ध के उपदेशो की झलक बहुत अधिक पाई जाती है और यह एक मानी हुई बात है कि भगवान् बुद्ध का समय ईसा से बहुत वर्ष पूर्व है, इसलिये स्वर्गवासी रमेशचन्द्र दत्त महोदय बडे जोरो से इस बात का समर्थन किया करते थे कि भगवान ईसा एक 'बौद्ध धर्म' के शिक्षा प्राप्त साधु थे।

२—आर्य समाज के प्रसिद्ध और विद्वान नेता श्री महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज ने अंग्रेजी और हिन्दी में एक पुस्तक प्रकाशित कराई है, जिसका नाम है—(Crucifixion by an eye witness), अर्थात् 'ईसा का बलिदान एक दृष्ट साक्षी द्वारा।' इसमें बताया गया है कि 'ईसा जेरोसेलम की 'फ्री मैशनरी सोसाइटी' के सदस्य थे। वहीं उन्होने शिक्षा पाई और John the Baptist से, जोकि उनके साथ ही उक्त सोसाइटी के सदस्य थे, सोसाइटी के

नियमानुसार दीक्षा ली। उन्होंने सोसाइटी की अनुमति से ही प्रचार कार्य आरम्भ किया था। उनके प्रचार से यहूदी अप्रसन्न हुए। इसके फलस्वरूप उनको सूली दी गई, परन्तु वह सूली पर मरे न थे, केवल बेहोश हो गये थे और राज-कर्मचारियों ने उन्हें भ्रम वश मरा समझ लिया था। सोसाइटी के सदस्य जोजेफ ने उनका जीवित शव-प्राप्त किया और तिकोडेमस की चिकित्सा से स्वस्थ होकर वे कुछ दिन तक सोसाइटी का कार्य करते रहे। अन्त में उनका शरीरान्त हुआ और उन्हें समुद्र के किनारे दफनाया गया।'

सलीब पर ईसा मरे न थे, अपितु 'पिलातुस' की चतुरता से जीवित बचा लिये गये थे, इसकी पुष्टि इंजील के निम्नलिखित वचनो से भी होती है—

'जब महा याजक और पुरनिये उस पर दोष लगा रहे थे तो उसने कुछ उत्तर न दिया। सो पिलातुस ने उनसे कहा—'तू सुनता नहीं कि तेरे विरोध में ये कितनी गवाहियाँ दे रहे हैं?' पर उसने उसकी एक बात का भी उत्तर न दिया। यहाँ तक कि हाकिम ने बहुत अचम्भा किया और हाकिम की यह रीति थी कि उस पर्व में लोगों के लिये किसी एक बँधुए को, जिसे वे चाहते थे, छोड़ देता था। उस समय बरअब्बा नाम उन्हीं में का एक नामी बँधुआ था। सो जब वे इकट्ठे हुए तो पिलातुस ने उनसे कहा—"तुम किसको चाहते हो कि मैं तुम्हारे लिये छोड़

दूँ, बरअब्बा को या यीशु को, जो मसीह कहलाता है ?" वह जानता था कि उन्होंने उसे डाह से पकडवाया था। जब वह न्याय की गद्दी पर बैठा तो उसकी पत्नी ने उसे कहला भेजा कि "तू उस धर्मी के मामले में हाथ न डालना, क्योंकि मैंने आज सपने में उसके कारण बहुत दुःख भोगा है।"

(मत्ती २७ १२ से २० तक)

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पिलातुस ईसा को मौत से बचाना चाहता था और पिलातुस की स्त्री ने इसके लिए सिफारिश भी की थी। फिर जब 'इंजील' में ईसा के मरने के तीन दिन पश्चात् जी उठने की घोषणा सुनाई देती है तो हमें पूर्ण विश्वास हो जाता है कि जरूर ही पिलातुस ने ईसा को मृत्यु से बचाने और साथ ही विरोधियों की नजर में मार देने का कोई यत्न किया था। यही कारण है कि जब युसूफ ईसा की लाश माँगने पिलातुस के पास जाता है तो पिलातुस को यीशु के मरने की बात सुनकर आश्चर्य होता है।

'पिलातुस ने अचम्भा किया कि वह इतना शीघ्र मर गया और सूबेदार को बुलाकर पूछा कि—"क्या उसको मरे कुछ देर हुई ?"

(मरकस १५/४४)

३ - ईसा ने कहाँ शिक्षा पाई ? इसका कोई उल्लेख

इ जील मे नहीं है। हाँ, योहन्ना से बपतिस्मा-दीक्षा लेने का जिक्र तो आता है। प्रसिद्ध रूसी यात्री नोटोविच (M, N Notowitcl Russian traveller) ने 'ईसा के अज्ञात जीवन का वृत्तान्त' (The unknown life of Christ) नाम की एक महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित की थी, जोकि उसे हिमीज (Himis) (तिब्बत) के पुस्तकालय में, पाली भाषा में मिली थी। भारत मे यह पुस्तक कलकत्ते के 'थैकर स्पिक एण्ड कम्पनी' (Thancker Spinck and co, Calcutta) की ओर से प्रकाशित हुई है। उसमें लिखा है कि 'ईसा एक बौद्ध सन्त थे। १३ वर्ष की आयु में हिन्दुस्तान आये, 'बौद्ध धर्म' की दीक्षा ली, बनारस और जगन्नाथपुरी आदि स्थानों मे रहे, पजाब और काश्मीर-आदि मे घूमे, ३० वर्ष की आयु मे स्वदेश लौट गये और जाकर 'बौद्ध धर्म' का प्रचार करते रहे, इत्यादि। इ जील में भगवान् ईसा के तेरहवें वर्ष से तीसवें वर्ष तक का कुछ जीवन वृत्त उपलब्ध न होने का कारण यह है कि अपनी आयु के इस भाग में, उन्होने भारतवर्ष में आकर शिक्षा ग्रहण की थी-आदि।' पहले यह पुस्तक फ्रेंच भाषा में छपी थी। इसे प्रकाशित कर, नोटोविच को ईसाइयों का कोप भाजन बनकर अनेक कष्ट भी झेलने पड़े थे। कुछ पादरियो ने पुस्तक पर आक्षेप भी किये थे, परन्तु नोटोविच ने अपने जीवन काल मे ही शका समाधान सहित इसे

संसार की कई भाषाओं में छपवा दिया था।

४—बुलन्दशहर-निवासी स्वर्गीय बा० सुन्नूलाल जी ने 'कृष्ण के क्राइस्ट' नामक एक विशालकाय पुस्तक लिखकर यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि 'इञ्जील क्राइस्ट' का 'अफ़साना भागवती कृष्ण' की एक अधूरी-सी नक़ल है-इत्यादि -

मेरा व्यक्तिगत विचार, जोकि स्वाध्याय, अन्वेषण तथा चिन्तन पर अवलम्बित है, यह है कि ईसा का जन्म ऐतिहासिक हो न हो, उनकी कल्पना एक सच्चरित्र, ईश्वर-भक्त महा पुरुष की कल्पना है। 'मानव-धर्म' प्रचारार्थ उनके जिन सिद्धान्तों या पवित्र उपदेशों और अनुष्ठानो का प्रचार पाश्चात्य देश वासियों के सम्मुख किया गया, वे अपने वास्तविक रूप में मनुष्य-मात्र के लिए अनुकरणीय हैं, और रहेंगे। ईसाइयो के ईसा-सम्बन्धी विचार गाढतम और तर्क-शून्य चरम श्रेणी की श्रद्धा के आवश्यक परिणाम हैं। इसीलिये हमें उनमे कहीं-कहीं उसी प्रकार भ्रम उत्पन्न हो जाता है, जैसे अन्य धार्मिक ग्रन्थों में, हम उनका समर्थन नहीं कर सकते।

ईसा का जीवन-चरित्र और उपदेश-आदि मुख्यतया चार इञ्जीलों (Gospels) मे सगृहीत है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१—मत्ती की इञ्जील

२—मरकुस की इंजील

३—लूका की इंजील

४—योहन्ना की इंजील

इन इंजीलो को ईसा के चार छोटे छोटे जीवन चरित्र ही कहना चाहिये। इनमे बहुत अधिक समानता है। केवल कहीं कहीं पर थोड़ा-थोड़ा भेद पाया जाता है।

बुद्ध, मुहम्मद और दयानन्द इत्यादि के समान ही ईसा ने भी अपने सुधार वादी होने की स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा है—

'यह न समझो कि मैं व्यवस्था या नबियो के लेखों को लोप करने आया हूँ। लोप करने नहीं, वरन् पूरा करने आया हूँ।'

(मत्ती ५/१७, १८)

इंजीलो मे अन्यत्र भी इसी प्रकार के वचन पाये जाते हैं और इससे सिद्ध होता है कि भगवान् ईसा का आन्दोलन केवल सुधारात्मक था, किसी नूतन मजहब की स्थापना उनका ध्येय न था।

भगवान् ईसा के पारिवारिक जनों का वर्णन मरकुस ६/३ मे इस प्रकार हुआ है—

'यह क्या वही बढई नहीं, जो मरियम का पुत्र और याकुब और योसेस और यहूदा और शमौनका भाई है और क्या उसकी बहिनें यहाँ हमारे बीच मे नहीं रहतीं ?'

इब्राहीम की ४२ वीं और दाउद की चौबीसवीं पीढी में ईसा के जन्म का उल्लेख करते हुए मत्ती लिखता है—

'और याकूब से यूसुफ पैदा हुआ, जो मरियम का पति था, जिससे यीशु, जो मसीह कहलाता है, उत्पन्न हुआ।'

(मत्ती १/१६)

इ जीलो के अनुसार ईसा—

१—ईश्वर का पुत्र था।

२—अलौकिक ढङ्ग से पैदा हुआ था।

३—सूली के बाद अलौकिक ढङ्ग से जी उठा था।

४—उसमे अनेक चमत्कार करने की शक्ति थी।

५—वह पापियों को पाप से छुड़ाता था।

६—उस पर, केवल उसी पर, विश्वास करने से मुक्ति मिल सकती है।

इन बातो को सर्वथा इसी रूप में मान लेना हमारे लिए कठिन है। हमने 'मानव-धर्म' के विशेष-दृष्टिकोण के अनुसार ही भगवान् ईसा के जीवन का अनुशीलन किया है। हमारी राय मे भगवान् ईसा का चरित्र इतना विशुद्ध है, उसका ईश्वर-विश्वास और विश्व-प्रेम ऐसा उज्जवल है, कि उसके सामने सबको सिर झुकाना चाहिए। ईसाई-मत के बहुत-से विवादा-स्पद सिद्धान्तो का ईसा के उपदेशो में जरा सा वर्णन भी नहीं है। उसका जन्म यहूदियो में हुआ उसके श्रोतागण भी अधिकाश यहूदी ही थे, इसलिये उसके

उपदेशों और यहूदी सिद्धांतों ने मिलकर एक नये मत का रूप धारण कर लिया। वास्तव में ईसा की शिक्षा इंजीलों में निहित है, विशेषकर गिरिप्रवचन (Sermon on the Mount) में, जोकि इंजीलों में भूषण रूप है। उस उपदेश का उल्लेख मत्ती रचित इंजील के पाँचवें, छठे और सातवें अध्याय में हुआ है। यह उपदेश इतना सरल, सुन्दर, ओजपूर्ण और प्रभावशाली है कि बार बार पढ़ने पर भी फिर-फिर पढने की इच्छा बनी ही रहती है। सारा उपदेश यहाँ उद्धृत करना तो कठिन है, फिर भी थोड़ा सा उल्लेख किया जाता है—

'धन्य हैं वे, जो मन के दीन हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है। धन्य हैं वे, जो शोक करते हैं, क्योंकि वे शांति पाएंगे। धन्य हैं वे, जो नम्र हैं, क्योंकि वे पृथ्वी के अधिकारी होंगे। धन्य हैं वे, जो धर्म के भूखे प्यासे हैं, क्योंकि वे तृप्त किये जाएंगे। धन्य हैं वे, जो दयावन्त हैं, क्योंकि उन पर दया की जाएगी। धन्य हैं वे, जिनके मन शुद्ध हैं, क्योंकि वे परमेश्वर को देखेंगे। धन्य हैं वे, जो मेल करानेवाले हैं, क्योंकि वे परमेश्वर के पुत्र कहलाएंगे। धन्य हैं वे, जो धर्म के कारण सताये जाते हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।'

(मत्ती ५/३ से ११ तक)

'मैं तुम से कहता हूँ कि जो कोई अपने भाई पर क्रोध

'दोष न लगाओ कि तुम पर दोष न लगाया जाये। जब तू अपनी आँख का लट्ठा नहीं देखता तो अपने भाई से क्योंकर कह सकता है ठहर जा, मैं तेरे आँख के तिनके को निकाल दूँ? हे कपटी, पहिले अपनी आँख से लट्ठा निकाल, तब अपने भाई की आँख का तिनका भली भाँति देखकर निकाल सकेगा। पवित्र वस्तु कुत्तो को न दो और न अपने मोती सुअरो के आगे डालो। ऐसा न हो कि वे उन्हें पाँव तले रौंदे और फिरकर तुमको फाड़ें। माँगो तो तुम्हें दिया जायेगा। ढूँढो तो तुम पाओगे। खटखटाओ तो तुम्हारे लिए खोला जायेगा। जो कुछ तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ करें, तुम भी उनके साथ वैसा ही करो, क्योंकि व्यवस्था और नबियो की शिक्षा यही है।'

(मत्ती ७/१, ५, ६, ७ और १०)

इच्छा होती है, सारा उपदेश ज्यों-का त्यों यहाँ उद्धृत करूँ और अन्य धर्मों के साथ उसकी तुलना करते हुए विस्तृत-भाष्य भी लिखूँ, पर पुस्तक का अल्प कलेवर ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता। विशेष रुचि रखने वाले पाठकों को मूल पुस्तक में ही इस उपदेश को पढकर अपनी जिज्ञासा पूर्ण करनी चाहिये।

भगवान् ईसा के चेले, जिनपर उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति का कार्य भार सौंपा, बारह थे—

'बारह प्रेरितो के नाम ये हैं। पहिला शमौन, जो

पतरस कहलाता है और उसका भाई अन्द्रियास जबदी का पुत्र याकूब और उसका भाई यूहन्ना। फिलिप्पुस और बर-तुल्मै तोमा और महसूल लेने वाला मत्ती हलफै का पुत्र याकूब और तद्दै शमौन कनानी और यहूदा इस्करियोती, जिसने उसे पकड़वा भी दिया।'

(मत्ती १०/२ ३, ४)

इनके अतिरिक्त शमौन उगागी और याकूब के भाई यहूदा को भी चेलो मे गिना जाता है। इनमे से प्रथम पाँच बैतसदा के रहने वाले माने गये हैं। इ जीलो मे (१) शमौन पतरस, (२) अन्द्रियास (३) यूहन्ना (४) मत्ती (५) और (६) यहूदा इस्करियोती का ही जिक्र अधिक आता है। बाकी का बहुत ही थोड़ा। इ जीलो को पुष्टि में लिखी गई अन्य पुस्तको में भी इनका सविवरण उल्लेख नहीं है। यद्यपि अन्द्रियास हो सब से पहिले चेला बना था, परन्तु दर्जा 'शमौन पतरस' का ही सर्वप्रथम था। वही भगवान् ईसा का उत्तराधिकारी भी बना। यहूदा, इस्करियोती ईसा को पकड़वाने के लिए मशहूर है। मत्ती और यूहन्ना इ जील लिखने वाले हैं। प्राय ईसा के साथ ही साथ रहने के कारण यूहन्ना विशेष कृपा पात्र और प्रिय शिष्य समझा जाता है।

भगवान् ईसा ने अपने चेलों का निर्वाचन बहुत साधारण और समाज की अपेक्षाकृत छोटी समझो ज.

'दोष न लगाओ कि तुम पर दोष न लगाया जाये। जब तू अपनी आँख का लट्ठा नहीं देखता तो अपने भाई से क्योंकर कह सकता है ठहर जा, मैं तेरे आँख के तिनके को निकाल दूँ ? हे कपटी, पहिले अपनी आँख से लट्ठा निकाल, तब अपने भाई की आँख का तिनका भली भाँति देखकर निकाल सकेगा। पवित्र वस्तु कुत्तों को न दो और न अपने मोती सुअरों के आगे डालो। ऐसा न हो कि वे उन्हें पाँव तले रोंदें और फिरकर तुमको फाड़ें। माँगो तो तुम्हें दिया जायेगा। ढूँढो तो तुम पाओगे। खटखटाओ तो तुम्हारे लिए खोला जायेगा। जो कुछ तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ करें, तुम भी उनके साथ वैसा ही करो, क्योंकि व्यवस्था और नबियों की शिक्षा यही है।'

(मत्ती ७/४, ५, ६, ७ और १०)

इच्छा होती है, सारा उपदेश ज्यों-का त्यों यहाँ उद्धृत करूँ और अन्य धर्मों के साथ उसकी तुलना करते हुए विस्तृत-भाष्य भी लिखूँ, पर पुस्तक का अल्प कलेवर ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता। विशेष रुचि रखने वाले पाठकों को मूल पुस्तक में ही इस उपदेश को पढ़कर अपनी जिज्ञासा पूर्ण करनी चाहिये।

भगवान् ईसा के चेले, जिनपर उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति का कार्य भार सौंपा, बारह थे—

'बारह प्रेरितों के नाम ये हैं। पहिला शमौन, जो

पतरस कहलाता है और उसका भाई अन्द्रियास जबदी का पुत्र याकूब और उसका भाई यूहन्ना। फिलिप्पुस और बर-तुल्मै तोमा और महसूल लेने वाला मत्ती हलफै का पुत्र याकूब और तद्दै शमौन कनानी और यहूदा इस्करियोती, जिसने उसे पकडवा भी दिया।'

(मत्ती १०/२, ३, ४)

इनके अतिरिक्त शमौन बनागी और याकूब के भाई यहूदा को भी चेलो मे गिना जाता है। इनमें से प्रथम पाँच बैतसदा के रहने वाले माने गये हैं। इ जीलो मे (१) शमौन पतरस, (२) अन्द्रियास (३) यूहन्ना (४) मत्ती (५) और (६) यहूदा इस्करियोती का ही जिक्र अधिक आता है। बाक़ी का बहुत ही थोडा। इ जीलो की पुष्टि में लिखी गई अन्य पुस्तको में भी इनका सविवरण उल्लेख नहीं है। यद्यपि अन्द्रियास ही सब से पहिले चेला बना था, परन्तु दर्जा 'शमौन पतरस' का ही सर्वप्रथम था। वही भगवान् ईसा का उत्तराधिकारी भी बना। यहूदा, इस्करियोती ईसा को पकडवाने के लिए मशहूर है। मत्ती और यूहन्ना इ जील लिखने वाले हैं। प्राय ईसा के साथ ही साथ रहने के कारण यूहन्ना विशेष कृपा पात्र और प्रिय शिष्य समझा जाता है।

भगवान् ईसा ` ` चेलों का निर्वाचन साधारण और सम। छोटी ~,

करना कि किस रीति से या क्या कहोगे। क्योंकि जो कुछ तुमको कहना होगा, वह उसी घडी तुम्हे बता दिया जायेगा। क्योंकि बोलनेवाले तुम नहीं हो, पर तुम्हारे पिता का आत्मा तुम मे बोलनेवाला है। भाई, भाई को और पिता पुत्र को घात के लिये सौंपेंगे और लड़के-वाले माता-पिता के विरोध मे उठकर उन्हे मरवा डालेंगे। मेरे नाम के कारण सब लोग तुम से बैर करेंगे। पर जो अन्त तक धीरज धरे रहेगा, उसी का उद्धार होगा।'

(मत्ती १०/१६ से २२)

'चेला अपने गुरु से बड़ा नहीं और न दास अपने स्वामी से। चेले का गुरु के और दास का स्वामी के बराबर होना ही बहुत है। जब उन्होंने घर के स्वामी को शैतान कहा तो उसके घर वालों को क्यों न कहेंगे। सो उनसे न डरना, क्योंकि कुछ ढका नहीं जो खोला न जायेगा और न कुछ छिपा है, जो जाना न जायेगा। जो मैं तुमसे अँधेरे मे कहता हूँ, उसे उजाले मे कहो और जो कानो कान सुनते हो, उसे कोठो पर से प्रचार करो। जो शरीर का घात करते हैं, पर आत्मा का घात नहीं कर सकते, उनसे न डरना, पर उसी से डरो, जो आत्मा और शरीर दोनो का नरक मे डाल सकता है।'

(मत्ती १०/२४ से २८)

कई ऐसे अवसर भी आये, जबकि अनेक सम्पन्न

और प्रतिष्ठित लोगों ने भगवान् ईसा से प्रार्थना की कि उन्हें शिष्य बना लिया जाये और उनके साथ रहने की अनुमति दी जाए। परन्तु उन्होंने उनके इस अनुरोध को स्वीकार करना उचित न समझा। एक शास्त्री ईसा के चरित्र पर मुग्ध होकर शिष्य बनना चाहता है और अत्यन्त श्रद्धा भक्ति पूर्वक निवेदन करता है—

"Master, I will follow Thee whithersoever thou goest"

'हे गुरु, जहाँ आप जायेंगे, मैं आपके पीछे जाऊँगा।'

(मत्ती ८/१६)

भगवान् ईसा को उसमें वह शक्ति और दृढ़ता दिखाई न दी, जोकि कल्याण मार्ग के पथिकों के लिए परमावश्यक, होती है। उन्होंने उसे टालते हुए कहा—

'लोमड़ियों के भट और आकाश के पक्षियों के बसेरे होते हैं, पर मनुष्य के पुत्र को सिर धरने की भी जगह नहीं।'

(मत्ती ८/२०)

'जो अपना क्रॉस (Cross) लेकर मेरे पीछे न चले, वह मेरे योग्य नहीं। जो अपना प्राण बचाता है, वह उसे खोएगा और जो मेरे कारण अपना प्राण खोता है, वह उसे बचाएगा।'

ईसा के उपदेश व्यावहारिक एव नपी-तुली और अलंकारिक भाषा में होते थे। उनमें मुहावरो और दृष्टान्तों की बाहुल्यता रहती थी। इसमे उपदेश और भी रोचक, सुबोध और प्रभावशाली हो जाते थे। उनके कतिपय दृष्टान्त इस प्रकार हैं—

१—'एक बोनेवाला बीज बोने निकला। बोते हुए बीज मार्ग के किनारे गिरे और पक्षियो ने आकर उन्हें चुग लिया। कुछ पत्थर-वाली भूमि पर गिरे, जहाँ उन्हें बहुत मिट्टी न मिली और गहरी मिट्टी न मिलने से वे जल्द उग आए। पर सूरज निकलने पर वे जल गये और जड न पकड़ने से सूख गये। कुछ झाड़ियो मे गिरे और झाडियो ने बढकर उन्हें दबा डाला। पर कुछ अच्छी भूमि पर गिरे और फल लाये, कोई सौ-गुना, कोई साठ-गुना, कोई तीस गुना। जिसके कान हो, वह सुन ले।'

(मत्ती १३/३ से ६)

२—'स्वर्ग का राज्य उस मनुष्य के समान है, जिसने अपने खेत में अच्छा बीज बोया। पर जब लोग सो रहे थे, तो उसका बैरी गेहूँ के बीच जङ्गली बीज बो कर चला गया। जब अकुर निकले और बालें उगीं तो जगली दाने भी दिखाई दिए। इस पर गृहस्थ के दासों ने आकर उससे कहा—'हे स्वामी, क्या तूने अपने खेत मे अच्छा बीज न बोया था ? फिर जगली दाने के पौदे उसमे कहाँ से

आये ? उसने उनसे कहा—'यह किसी बैरी का काम है।' दासों ने उससे कहा—'क्या तेरी इच्छा है कि हम जाकर उनको बटोर ले ?' उसने कहा,—'ऐसा न हो कि जंगली दानों के पौदों को बटोरते हुए उनके साथ गेहूँ भी उखाड़ लो। कटनी तक दोनो को साथ साथ बढ़ने दो। कटनी के समय मैं काटनेवालों से कहूँगा कि पहले जंगली दाने के पौदे बटोरकर जलाने के लिए उनके गट्ठे बाँध लें, और गेहूँ को मेरे खत्ते में इकट्ठा करदें।'

(मत्ती १३/२४ से ३०)

३—'स्वर्ग का राज्य उस गृहस्थ के समान है, जो सवेरे निकला कि अपनी दाख की बारी में मजदूरों को लगाये और उसने मजदूरों को एक दीनार रोज ठहराकर उन्हें अपनी दाख की बारी में भेजा। दोपहर को कुछ और मजदूर ले आया। तीसरे पहर कुछ और मजदूर ले आया। शाम को उसने अपने भण्डारी से कहा कि पिछले से पहिले तक मजदूरी दे दे। जो पीछे आये थे, उन्हें एक-एक दीनार मिला। जो पहिले आये थे, उन्होने सोचा, हमें कुछ अधिक मिलेगा, परन्तु उन्हें भी एक एक दीनार ही मिला। वे नाराज होने लगे। गृहस्थ ने उनमें से एक को कहा—'मित्र, मैं कुछ अन्याय नहीं करता। क्या तूने मुझसे एक दीनार न ठहराया था ? जो तेरा है, उठा और जा। मेरी इच्छा है कि सब को बराबर दूँ अथवा कम-

अधिक। अपने माल से मैं जो चाहूँ, करूँ। इस प्रकार जो पिछले हैं, वे पहिले और जो पहिले हैं, वे पिछले होंगे।'

(मत्ती २०/१ से १६ सार)

४—'एक मनुष्य कुछ किसानों को अपना खेत ठेके पर देकर परदेश चला गया। जब फल का समय आया तो उसने अपने नौकर फल लेने भेजे। किसानो ने उन्हें मारा पीटा। फिर उसने और अधिक नौकर भेजे। किसानों ने उन्हें भी मारा पीटा। फिर उसने अपना पुत्र भेजा। किसानो ने उसे जान से मार डाला। अब जब खेत का स्वामी आएगा, वह उन दुष्ट किसानो का सर्वनाश करेगा।'

(मत्ती २१/३३ से ४१ सार)

५—'एक मनुष्य ने परदेश जाते समय अपने नौकरो को अपनी सम्पत्ति सौंप दी। उसने एक को पाँच, दूसरे को दो और तीसरे को एक तोड़ (राशि) धन दिया। जिसको पाँच मिले थे, उसने लेन देन करके पाँच और कमाये। जिसे दो मिले थे, उसने दो और कमाये। जिसे एक मिला था, उसने स्वामी का धन मिट्टी में छिपाकर सुरक्षित रखा। जब स्वामी आया, उसने पाँचवाले से प्रसन्न होकर उसका अधिकार बढा दिया। दो-वाले की भी अधिकार-वृद्धि की। एक-वाले ने एक ही लौटाया। स्वामी ने उसे आलसी और मूर्ख कहकर निकाल दिया। जिसके पास दस थे, वह एक भी उसी को दे दिया। जिसके पास है, उसे और दिया

जाएगा। जिसके पास नहीं, उसके पास यदि कभी कुछ होगा तो वह भी ले लिया जाएगा।'

(मत्ती २२/१४ से २६ सार)

ईसा विश्व प्रेमी सन्त और 'मानव धर्म' के महान् प्रचारक थे। उनके मुख से मधु झरता था। रोम रोम से प्रत्येक चेष्टा और भाव भंगी से प्रेम का स्रोत उमड़ा पड़ता था। वे मैत्री और करुणा के अवतार एवं प्रेम के मूर्त रूप थे। यह सब कुछ होते हुए भी पारिवारिक-बन्धनों में वह कभी नहीं पडे । कदाचित्, पारिवारिक बन्धनों को वे अपने कर्तव्य-मार्ग में बाधा रूप भी समझते थे। पिता यूसुफ के प्रति उनके पुत्र भाव का उल्लेख कहीं नहीं है। माता मरियम, भाई और बहिन कई बार मिलने आए। वह आनाकानी करते और उन्हें टालते रहे। विवाह उन्होने किया ही नहीं। सारा ससार ही उनके लिए कुटुम्ब के समान था। मत्ती (२६,६ ७,८) की इंजील में एक स्त्री द्वारा ईसा के सिर पर इत्र डालने का जिक्र आता है। सूली पाने के पश्चात् यही स्त्री ईसा की कब्र पर रोती हुई भी दिखाई देती है। विद्वानो का कहना है कि वह भगवान् ईसा को प्रेम करती थी। क्या ईसा भी उससे प्रेम करते थे? क्या ईसा ने उसके इत्र के समान ही कभी उसके प्रेम को भी स्वीकार किया? यदि इजीलो के आधार पर मैं 'हाँ' में उत्तर दे सकता तो मुझे हार्दिक आनन्द प्राप्त होता।

'हे प्रभु दाऊद की सन्तान, मुझ पर दया कर, मेरी बेटी को दुष्ट आत्मा बहुत सता रहा है।' उन्होंने उसे कुछ उत्तर न दिया और उसके चेलो ने आकर उनसे बिनती कर, कहा—'इसे विदा करें, क्योंकि यह हमारे पीछे चिल्लाती आती है।' उन्होंने उत्तर दिया, 'इस्राईल के घराने की खोई हुई भेड़ो को छोड़, मैं किसी के पास नहीं भेजा गया।' पर वह आई और उसे प्रणाम कर, कहने लगी—'हे प्रभु मेरी सहायता कर।' उसने उत्तर दिया—'लड़को की रोटी लेकर कुत्तों के आगे डालना अच्छा नहीं।' उसने कहा—'सत्य है प्रभु, पर कुत्ते भी अपने स्वामी के झूठे टुकड़े खाते हैं।' इस पर यीशु ने कहा—'देखि, तेरा विश्वास बड़ा है, जैसा चाहती है, तेरे लिये वैसा ही हो।' और उसकी बेटी उसी घड़ी अच्छी हो गई।'

(मत्ती १५/२२ से २८)

भगवान् ईसा के चरित्र के साथ इस और ऐसी ही अन्य घटनाओ की कोई सुसगतता लगती नहीं। इनमे न सत्य है, न उदारता। हम इस प्रकार के शब्दो को प्रमाद और साम्प्रदायिकता की उपज एव मिथ्या गप्प समझते हैं। इसी प्रकार चमत्कार की बातो को भी भक्तों की प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति, जो कि अन्ध-विश्वास की सीमाओ को भी पार कर चुकी थी, का परिणाम समझते हैं। कुदरत के नियमों के विरुद्ध और अनहोनी घटना का होना ही

चमत्कार कहलाता और समझा जाता है, सो सृष्टि नियम-विरुद्ध किसी भी घटना का होना कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी शक्ति किसी मनुष्य में, फिर वह ईसा, मुहम्मद, मूसा और महावीर ही क्यो न हो, नहीं है। अपने अटल नियमों से विरुद्ध कार्य करने की शक्ति तो स्वय सर्व-शक्तिमान् ईश्वर में भी नहीं है। ईसा मनोविज्ञान विशेषज्ञ, जड़ी बूटी और सूक्ष्म औषधि प्रयोग-द्वारा असाध्य रोगियों को भी स्वास्थ्य प्रदान करके सब को आश्चर्य में डाल देता था। यदि ऐसा हो तो ठीक ही है। मरकुस ६/१३ मे ईसा के औषधि प्रयोग का उल्लेख मौजूद है—'और बहुत-से बीमारों पर तेल मलकर उन्हें उसने चगा किया।'

ईसा ने प्रचलित रूढ़ियों को तोड़ा था। अन्ध-विश्वासों पर कुठाराघात किया था। भद्दे व्यवहार और पापाचरण के लिये वह ओजस्वी शब्दो मे धर्म-जीवी पण्डे पुजारियों, पचो और पुरोहितों, शासकों एव अन्यान्य सत्ताधारियों की भर्त्सना करता था। प्रभु के सिवा किसी से डरना उसने सीखा ही नहीं था। आत्मा की अमरता का दृढ विश्वास उसे कष्ट सहन एव कर्तव्य पूर्ति के लिये मर मिटने का अपूर्व बल प्रदान करता था। अत पच और पुरोहित उसे सताने की स्कीमे बनाने लगे। उसका उपहास उड़ाया जाता था, लाछन लगाये जाते थे। उसके प्रति अपमान और दुर्व्यवहार किया जाता था, पग पग पर कष्ट दिये जाते थे, जनता को उसका

साथ छोड़ने, विरोध करने और बॉयकॉट करने को कहा, उकसाया और भड़काया गया। परन्तु वह अपने पथ से विचलित न हुआ। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—

निन्दतु नीति निपुण यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम।
अद्यैव वा मरणमस्तु, युगान्तरे—वा,
न्यायात पथ प्र—विचलन्ति पद न धीरा॥

अर्थ-नीति-निपुण लोग निन्दा करें या स्तुति, लक्ष्मी आये या जहाँ चाहे जाये मौत आज आए या युग युगान्तर के पश्चात, धीर जन न्याय-मार्ग से विचलित नहीं होते।

भगवान् ईसा का धैर्य विरोधियों की कोपाग्नि को भड़काने के लिए घी का काम करता था। ईसा को मौत के घाट उतारने की साजिशें होने लगीं। ईसा को भी बच-बच कर काम करना पड़ा। परन्तु कब तक? ईसा का एक चेला यहूदाइस्किरयोती विरोधियों से जा मिला और उसने केवल तीस रुपये के बदले उसे पकड़वाकर सूली पर चढ़वा दिया। इससे भी बढ़कर शोक की बात यह है कि जब ईसा पकड़ा गया, सब चेले उसे अकेला छोड़कर भाग गये। यथा, 'तब सब चेले उसे छोड़कर भाग गये।"

(मत्ती २६/५६)

ठीक है—

सियाह बख्ती में कब कोई, किसी का साथ देता है।
कि तारीकी में साया भी, जुदा इन्साँ से रहता है॥

ईसा को जब से किसी विश्वस्त सूत्र-द्वारा इस विश्वासघात की सूचना मिली थी, तभी से एक असह्य वेदना उनके कलेजे को छलनी बनाये डालती थी। मृत्यु का भय और जीवन का मोह उन्हें न था। पर शिष्यो का विश्वासघात, जो अन्त मे सत्य सिद्ध हो गया, उन्हें भुलाये न भूलता था ! इस विश्वासघात ने ही एक से एक बढकर महावीरो के तप, त्याग और बलिदान को मिट्टी में मिला दिया। अफसोस ! वह जीवन मे कई बार दोहरा चुके थे—

'If any man will come after me, let him deny himself, and take up his Cross daily and follow me'

(Luke IX 23)

'जिसके हृदय मे मेरे अनुकरण की इच्छा हो, उसे चाहिये कि अपने जीवन को सर्वथा विस्मृत कर दे, और अपनी सूली उठाकर निर्भयता पूर्वक मेरे पीछे चले।'

ईसा पकडे गये। न्यायाधीश ने उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया। वह सूली पर चढाए गए। अन्त समय तक उन्होंने अपूर्व धैर्य और साहस का परिचय दिया। शब्दो द्वारा उनके बलिदान की महिमा को व्यक्त करना असम्भव है। सचाई के लिए फाँसी की रस्सी को गले मे डालकर ही उसका कुछ कुछ अनुभव प्राप्त किया जा सकता है।

ईसा के मृत्यु-दण्ड का आज्ञा-पत्र

पौण्टियस पाइलेट अस्थिर गवर्नर 'लोयर जैलिसी' ने नैजरथ निवासी ईसा को दण्ड-आज्ञा दी कि वह सूली द्वारा मृत्यु प्राप्त करे।

सम्राट् टिपरियस केसर के १७ वे राज्यावेद मे २७ वीं मार्च को जेरूसलम के पवित्र नगर मे, एनस और कफायस यहूदी पुजारी और ईश्वरीय पूजार्थ बलिदान-कर्ता तथा पौण्टियस पाइलेट गवर्नर लोयर जैलिसी का, जिसने प्रोटरी (प्राचीन रोमन न्याय सभा) में सभापति का आसन ग्रहण किया था, नैजरथ-निवासी ईसा को दण्डाज्ञा देते हैं कि—'दो चोरो के मध्य स्थानीय सूली-द्वारा मृत्यु दण्ड पावे।'

साक्षियो से प्रमाणित होता है कि—

१—ईसा लोगो को सत्पथ से हटाता है।

२—वह राज विद्रोही है।

३—वह आईन का विरोधी है।

४—वह मिथ्या रीति से अपने को ईश्वर कहता है।

५—वह यहूदी-मन्दिर में घुसा। उसके पीछे एक समुदाय हाथो में खजूर की डालियाँ लिए हुए था।

'प्रथम योधशताधीश क्यूलियस कौर्निलियस उसको सूली-घर तक ले जावे।'

'प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह सम्पन्न हो या दरिद्र,

आज्ञा दी जाती है कि वह ईसा के मृत्यु दण्ड का विरोध न करे।' साक्षी, जिन्होंने ईसा के मृत्यु-दण्ड पर हस्ताक्षर किये यह हैं —

डैनीयाल रोबानी (फैरीसी)

जौनसन सेबानी

राइफेल रोबानी

कैपट (नगर निवासी)

ईसा जेरूसलम नगर से स्ट्रूरगस द्वार से बाहर जावेगा।'

(ईसा का जीवन वृतान्त एक दृष्ट साक्षी द्वारा तथा 'महात्मा ईसा'-नामक पुस्तकों से उद्धृत)

न्यायाधीश का काम पूरा हुआ। आओ, अब फिर, हम उस महापुरुष की अन्तिम झाँकी लें —

'ईसा अपना क्रूस उठाये उस स्थान को, जो खोपड़ी का स्थान और हिब्रू भाषा में गल-गथा कहलाता था, चला। वहाँ पहुँचकर उन्होंने ईसा और उसके साथ दोनों मनुष्यों को सूली पर चढ़ाया, एक को इधर और एक को उधर, बीच में ईसा को।' क्या भगवान् ईसा का अन्त हुआ? नहीं, सूली ने तो उन्हें अमर बना दिया। मैं तो आज भी उन्हें गरीबों, पापियों और कोढ़ियों को अपनी ओर बुलाते हुए देख रहा हूँ। उनकी कष्ट निवारणी शक्ति बढ़ गई है, प्रभाव बढ़ गया है। वह सोना था, अग्नि

का निराकरण किया जाये। मुहम्मद साहब की महानता और मानव धर्म-प्रचार कार्य के महत्व का निश्चय उनके जीवन तथा उपदेशों को पढ अथवा सुनकर और विचार कर ही करना चाहिये—लम्बी दाढ़ीवाले मौलवी साहेबान या मुस्लिम हुकूक का वावेला मचानेवाले फिरक़ा-परस्तों को देखकर नहीं। मुसल्मानों, विशेषकर भारतीय मुसल्मानों में, असली, नक़ली और फसली सब तरह के लोग मौजूद हैं।

मुहम्मद साहब-से महा-मनुष्य देश अथवा जाति-विशेष की नहीं, मनुष्य-मात्र की सामूहिक सम्पत्ति हुआ करते हैं। मुहम्मद साहब का अस्तित्व सब के हित के लिए था। उनकी शिक्षाएँ सब के लिए थीं। वे आत्माएँ धन्य हैं, जो उन्हें 'अपना' समझती हैं तथा उनके दिखाये हुए मार्ग पर चलकर मानव धर्म के प्रचार तथा अनुष्ठान के लिए प्रयत्नशील हैं। साधारण राजा, महाराजा और शहन्शाह तो अपने देश में ही केवल भौतिक सम्पत्ति का अपहरण अथवा दान और नाशवान् शरीरों पर ही हुकूमत कर सकते हैं, परन्तु शहन्शाहों के शहन्शाह, ईश्वर के विशेष कृपा पात्र और सब के भले में अपना भला समझने-वाले मुहम्मद साहब से महा-मनुष्य वे हैं, जो सहस्रों शताब्दियों तक दिलों की दुनिया पर राज करते हैं, रूहानियत के लाल जवाहर लुटाते हैं और सदा अमर कीर्तिमान मानकर पूजे जाते हैं।

मुहम्मद साहब के जन्म से अरब की भूमि, प्रसिद्ध मक्का नगर, महिमाशाली कुरैश परिवार, पिता अब्दुल्ला का शुभ नाम और माता आम्ना की पवित्र कूख, सब एक साथ ही गौरवान्वित हुए। मुहम्मद साहब का जन्म २० अप्रैल, सन् ५७१ ईस्वी में हुआ था। पिता का देहान्त जन्म से दो मास पूर्व ही हो चुका था। छ वर्ष के थे, तब माता का साया सिर से उठ गया। आठ वर्ष के थे, तब बूढ़े दादा अब्दुल मतलब भी मृत्यु को प्राप्त हुए और आपको अबुतालिब के हाथो मे सौंप गये। अबुतालिब मुहम्मद साहब के सगे चचा थे। ये यद्यपि मुसलमान तो न बने, परन्तु मुहम्मद साहब का पालन पोषण इन्होने बहुत प्रेम और प्रयत्नपूर्वक किया और जब तक जीवित रहे, मुहम्मद साहब की मानव हितैषी प्रगतियो में बहुमूल्य सहायता करते रहे।

अरब के अधिकाश लोग अब भी खानाबदोशी का जीवन व्यतीत करते हैं। मरुभूमि होने के कारण वे ऐसा करने के लिए विवश भी हैं। उन दिनों अरब के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों मे अत्यन्त अन्धेरगर्दी फैली हुई थी। जूआ, शराब, अय्याशी, क़त्ल व गारत तथा लूट-मार का बाजार चारो तरफ गरम था। जनता विभिन्न घरानों में, जिन्हें कबीला कहते हैं, विभक्त थी। कबीले-वालों में पारस्परिक राग द्वेष बना ही रहता था। प्यार और प्रेम के लाभ शायद वे समझते ही न थे। रूढ़ियो

राज्य था। धर्म के नाम पर भीषणतम अत्याचार होते रहते थे और आवश्यकता थी, एक ऐसे महान् पुरुष की, जो इस अँधेरे को उजाले से बदल दे, लोगो मे सच्ची धार्मिकता का प्रचार करे, सदाचार और न्याय-नीति को फैलाये, दुनिया को सुख-शान्ति का सन्देश दे और मनुष्य को वास्तविक अर्थों मे मनुष्य बना दे। दैवी निर्वाचन का कार्य पूर्ण हुआ। दैवी प्रेरणा और प्रभु का आशीर्वाद पाकर मुहम्मद साहब कार्य-क्षेत्र की ओर बढे, बढते ही गये। उन्होने चुन-चुनकर एक एक बुराई पर वज्र प्रहार किया और दैवी सच्चाइयों का प्रतिष्ठान। सामाजिक और धार्मिक जगत् का आमूल-चूल कायाकल्प कर डाला। बाल्य काल मे मुहम्मद साहब भी अन्य प्रतिष्ठित अरब-वासियो के बच्चो के साथ मिलकर बकरियाँ चराया करते थे। कोई क्या जानता था कि यह छोटा-सा यतीम चरवाहा थोडे ही दिनों मे मानवता का रखवाला बनेगा?

जब मुहम्मद साहब की आयु इस योग्य हुई कि कोई कारोबार करें तो आपने अपनी कुल मर्यादा से चले आये व्यवसाय अर्थात व्यापार को पसन्द किया। कठिनाई यह थी कि पैसा पास न था, इसलिये लोग आपको अपना माल देकर दिसावर भेजते थे और नफे मे आपका भी हिस्सा रखते थे। व्यापारिक सफलता के सभी गुण आप में मौजूद थे, व्यापारिक बुद्धि, लेन देन में खरापन, वायदे

का पक्कापन और ईमानदारी। कर्त्तव्य-पालन मे वे कभी सुस्ती न करते थे। इसलिए थोडे ही दिनों मे अच्छी साख क़ायम होगई। आपका नाम ही विश्वासपात्र और सत्यवादी प्रसिद्ध होगया। देव दूत के रूप मे कार्यारम्भ करने से पूर्व ही आपके सार्वजनिक जीवन का आरम्भ हो चुका था। इस समय की प्रसिद्ध घटनाओ मे से कुछ इस प्रकार है—

(१)

'एक व्यापारी का माल किसी जालिम सरदार ने लूट लिया। व्यापारी ने लोगों से शिकायत की। आपके चचा ने अपने और मक्के के अन्य परिवारो के भद्र पुरुषों को एकत्रित करके निश्चय कराया कि—

१—हम देश से बे अमनी दूर करेंगे।

२—यात्रियो की रक्षा करेंगे।

३—गरीबो की सहायता करेंगे।

४—अत्याचारियो और सबलो के मुक़ाबले में पीडितो तथा निर्बलो का पक्ष लेंगे।

आप भी इन निश्चयों मे शामिल थे और भारी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि पाने के पश्चात भी कहा करते थे कि यदि आज भी उक्त प्रकार के कार्य के लिए बुलाया जाये तो मैं प्रस्तुत हूँ।

(२)

मक्के में एक बहुत शरीफ़ महिला थीं, श्रीमती खदीजा।

इसका व्यापार सब से बढ़ा-चढ़ा था। मुहम्मद साहब की सत्यवादिता, धर्म परायणता, ईमानदारी और व्यापार-कौशल का हाल सुना तो सन्देश भेजा कि "मेरा माल स्याम ले जाइये। औरों को जो कुछ देती हूँ, आपको उससे दुगुना दूँगी।" मुहम्मद साहब ने स्वीकार किया। ख़दीजा का ग़ुलाम मिस्राह यात्रा में मुहम्मद साहब के साथ था। ईश्वर की दया से इस व्यापार में बहुत लाभ हुआ। लौटने पर मिस्राह ने ख़दीजा से मुहम्मद साहब की बहुत तारीफ़ की।

ये बातें ख़दीजा के जी में बैठ गईं। वह विधवा थी। दो पति इससे पूर्व मर चुके थे। अच्छे अच्छे घरानों के लोगों ने शादी के सन्देश भेजे थे, पर ख़दीजा ने वे ठुकरा दिये थे। परन्तु अब उसने स्वयं मुहम्मद साहब को शादी का सन्देश भेजा। जिसे गुरुजनों की अनुमति पाकर उन्होंने स्वीकार कर लिया और दोनों विवाह के पवित्र बन्धन में बँध गये। इस समय ख़दीजा की आयु चालीस और मुहम्मद की २५ वर्ष की थी। विवाह के पश्चात् ख़दीजा पतिदेव की इच्छा और अभिलाषा का बहुत ध्यान रखती थी और कोई ऐसी बात न करती थी, जो पति को अरुचिकर लगे। इधर पति के दिल में भी ख़दीजा की बेहद इज्ज़त और मुहब्बत थी। जब तक वह जीवित रही, मुहम्मद साहब ने दूसरी शादी न की।

(३)

एक बार अरब में भीषण दुर्भिक्ष पडा। लोग भूखे मरने लगे। मक्केवालों का बुरा हाल था। सब को अपनी अपनी पड़ी थी, कोई किसी को न पूछता था, परन्तु सेवा व्रती मुहम्मद साहब ऐसे प्रलय के दृश्य चुपचाप कैसे देख सकते थे? फ़ौरन मैदान में कूद पड़े और भूखी-नंगी, दीन हीन, गरीब, पीड़ित जनता की सेवा तथा आवश्यकता पूर्ति के उपाय करने लगे। उस समय ख़दीजा ने भी अपना माल इस नेक काम में ख़र्च करने का उनको पूरा अधिकार दे दिया था।

विवाह के पश्चात् मुहम्मद साहब की व्यस्तताएँ बहुत बढ़ गईं थीं। गृहस्थी का प्रबन्ध, बच्चों का पालन पोषण अनेक नगरों की व्यापारिक यात्राएँ, मक्के के पीड़ितों और गरीबों की सेवा-सुश्रुषा-आदि अनेक कार्य थे, परन्तु आपका दिल और दिमाग तो इन सब कुछ के होते हुए भी किसी और ही तरफ लगा रहता था। या कहना चाहिए कि आपको उस पवित्र एवं महान उद्देश्य की खोज थी, जिसके लिए आप देव-द्वारा नियुक्त थे।

आयु के साथ साथ आपकी चिन्तन शक्ति भी उन्नत होती जाती थी। आबादी से दो तीन मील दूर पहाड़ पर चले जाते और एक कन्दरा में, जोकि "गारे हरा" के नाम से प्रसिद्ध है, कई दिन तक स्तुति, प्रार्थना और उपासना

में लीन रहते। वहीं आपका आत्म-चिन्तन और मनो-विकास पूर्ण हुआ। वहीं ईश्वर ने आपको अरब देश के सुधार और 'मानव धर्म' प्रचार का कार्य सौंपा और वहीं से आपको ईश्वरीय-ज्ञान "पवित्र क़ुरआन्" का प्राप्त होना आरम्भ हुआ

सुधार और धर्म प्रचार का कार्य कोई आसान कार्य नहीं है। जब किसी जाति में बुराइयाँ फैल जाती हैं, बुरी आदतें जड़ पकड़ लेती हैं, पापाचार के कारण हृदय में कालिमा भर जाती है, तब अच्छे काम और भली बातें अरुचिकर लगने लगती हैं। सत्य को सत्य कहना दूभर जान पड़ता है। नसीहत कानों में शूल सी चुभती है और यदि कोई साईं का स्नेही उन्हें धर्म-मार्ग पर चलाना चाहे, तो लोग झगड़े पर उतर आते हैं। जान के ग्राहक तक बन जाते हैं। अरब के लोगों की भी यही अवस्था थी। मुहम्मद साहब को अपने मार्ग की कठिनाइयों का पूरा पूरा बोध था। क्या वह कठिनाइयों से डर जाते? मानव-जाति के हित के लिए प्रभु ने जो अमानत उन्हें सौंपी थी, उसे मनुष्य-मात्र तक न पहुँचाते और दैवी आज्ञाओं का उल्लघन करते? नहीं, मुहम्मद साहब की शान प्रभु के पवित्र कार्यों की पूर्ति के लिए खतरों को निमन्त्रित करने, उनका स्वागत करने में थी और यही उन्होंने किया भी। मुहम्मद साहब ने अत्यन्त विचार और विवेकपूर्वक कार्यारम्भ

किया। सर्व प्रथम उन लोगों को इस्लाम का सन्देश सुनाया, जो उसे सुनते ही स्वीकार करलें। ऐसे वे ही हो सकते थे जिन से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था, जो जीवन में उनके साथ रहते थे, जो उनकी पवित्रता, सत्यवादिता, सहृदयता और ऋजुता में सन्देह रहित विश्वास रखते थे। ऐसे लोगों में सब से पहिला स्थान श्रीमती खदीजा का था, जो उनकी धर्मपत्नी थीं। फिर उनके चचेरे भाई अली, आपका खास दास जयीद, आपका परम मित्र अबुबकर। अबुबकर अच्छा सम्पन्न, समझदार और प्रभावशाली सज्जन था। मुहम्मद साहब का अनुयायी बनने के पश्चात् उसने अपने खास खास मित्रों तथा आश्रितों को भी 'धर्म मार्ग' का पथिक और मुहम्मद साहब का अनुयायी बनाने का बड़ा सफल प्रयत्न किया।

कुछ दिन सब काम छिपे छिपे होता रहा। नमाज भी मुहम्मद साहब छिपकर ही पढ़ लिया करते थे। एक बार मुहम्मद साहब छिपकर नमाज पढ़ रहे थे कि उनके चचा अबुतालिब ने देख लिया। पूछा—"मियाँ साहबजादे! यह किस धर्म की उपासना-पद्धति है? तुमने कौन से धर्म की दीक्षा ले ली?" मुहम्मद साहब ने गम्भीरतापूर्वक कहा—"यह ईश्वर का धर्म है। हमारे दादा श्रीमान इब्राहीम इसी धर्म के अनुयायी थे। प्यारे चचा, क्या ही अच्छा हो कि आप भी इस सच्चे धर्म को स्वीकार करें

और इसके प्रचार में मेरी सहायता करें।" अबुतालिब ने उत्तर दिया—"मैं अपने बाप दादा का मत छोड़ने को उद्यत नहीं हूँ, परन्तु तुम्हारे कामों मे मैं कोई बाधा न डालूँगा।"

तीन वर्ष यह धर्म प्रचार चुपके-चुपके होता रहा, जब एक अच्छी सख्या मे दृढव्रती और समझदार लोग मुहम्मद साहब के अनुयायी होगये तब उचित हुआ कि सार्वजनिक रूप मे धर्म-प्रचार कार्य का सगठन और श्रीगणेश किया जाये।

मुहम्मद साहब के अनुयायी को मुसलमान और उनकी शिक्षा को इस्लाम कहा जाने लगा। बाद मे ये पारिभाषिक शब्द बन गये और मानवता तथा उच्च शिक्षाओ का जो भी निचोड़ हो सकता है, वह शनै -शनै इन दो शब्दो के साथ जुड़ता गया। साधारणतया मुसलमान शब्द का अर्थ है—"मुसल्लम+ईमान=जिसका ईमान अर्थात् उच्च विश्वास (वेद के शब्दों में ऊँचे दर्जे की श्रद्धा=निष्ठा) पूर्ण हो।" इसी प्रकार इस्लाम का अर्थ है, "सिर झुकाना"। परिभाषा के अनुसार मुहम्मद साहब-द्वारा प्राप्त ईश्वरीय आज्ञाओं के सामने सिर झुकाने को इस्लाम कहते हैं।

एक दिन रात को लोग खाने-पीने से निवटकर बैठे ही थे कि मुहम्मद साहब ने सद्धर्म का सन्देश उन्हें

सुनाया—"लोगो ! मैं ईश्वर की ओर से ससार को
का सन्देश लेकर आया हूँ। सम्भवत इससे पूर्व अ
कोई इससे उत्तम वस्तु नहीं लाया। ईश्वर की अ
कि मैं तुम्हें उसकी ओर बुलाऊँ। बोलो, कौन कौन
साथ देगा ?"

चारों ओर सन्नाटा छा गया। अली ने इस चुप
भंग किया—

"अय ईश्वर के दूत ! यद्यपि मैं सब से छोट
पतली पतली मेरी टाँगें हैं। मेरी आँखें दुख रही हैं,
भी मैं आपका साथ दूँगा।"

सब हँस पड़े। कौन जानता था कि अली ने
सचाई को प्रगट किया है।

मक्के में प्रथा थी कि नगर निवासियों को किसी
काल अथवा विशेष अवसर पर एकत्रित करना हो
"सफा पर्वत" पर खड़े होकर पुकारते और जनता एक
हो जाती। अपने धर्म की ओर बुलाने के लिये मुह
साहब ने भी यही उपाय किया। जब मक्केवाले
एकत्रित हो गये, तो कहा—

"लोगो ! तुम मुझे सच्चा समझते हो कि झूठा ?"
एक स्वर से कहा—

"आपने आज तक कोई बात झूठ नहीं कही और
ही कोई अनुचित शब्द मुँह से निकाला।"

तब आप बोले—

"यदि मैं कहूँ कि पहाड़ के पीछे एक विशाल सेना छिपी है और वह अवसर पाकर तुम्हें लूट लेगी, तो क्या विश्वास करोगे ?"

सब बोले—"हाँ ! क्यों नहीं।"

आपने उत्तर में कहा—

"तो सुनो ! यदि तुम ईश्वर और उसके दूत पर विश्वास न लाओगे तो अन्त में भारी कष्ट भोगोगे।"

यह सुनते ही भारी हलचल मच गई। अबुलजहल जो कि रिश्ते में तो मुहम्मद का चचा था, परन्तु था साथ ही मुहम्मद साहब का प्रसिद्ध विरोधी और विरोधियों का अगवा, वह खास तौर पर बकवास और विवाद करने लगा।

अबुलजहल इस्लाम का विरोध करने तथा मुहम्मद और उसके अनुयायी वर्ग को सताने और हानि पहुँचाने के लिये नित्य नये-नये उपाय और षड्यन्त्र किया करता था। इन षड्यन्त्रों के विस्तार में जाने का तो स्थान नहीं, और कुछ का वर्णन इस पुस्तिका में आयेगा ही, फिर भी, इतना तो हम कहना ही चाहते हैं कि उसने महा-मनुष्य मुहम्मद साहब के विरोध ही विरोध में अपना नाम अमर कर लिया—

"बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा"

मुहम्मद साहब लोगो की अविद्या, अक्खड़पन और विरोध को देखकर घबराये नहीं, उनका जोश बढ़ता ही गया। उन्होंने अपने प्रयत्नों को और भी वेग पूर्वक आरम्भ कर दिया। उत्सवों, मेलों, बाजारों और गली कूचो मे जा जाकर लोगों को 'धर्म बुलावा' देने लगे। आपकी शिक्षा प्राय इस प्रकार होती थी—

'अपने शरीर को अपवित्रता, कपडो को मैल कुचैल, *वाणी को अप शब्दों और मन को मिथ्या विश्वासों से* पवित्र रखो। वचन और प्रतिज्ञा का दृढता से पालन करो। लेन-देन मे किसी को धोखा और फरेब न दो। ईश्वर को सर्वथा शुद्ध, पूर्ण और सब सद्गुणो से युक्त समझो। वही सूर्य, चन्द्र, तारा गण और पृथ्वी के एक कण का निर्माता है। सब चराचर ससार उसी के आधीन हैं। वह किसी के आधीन नहीं है। उसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। फरिश्ते और पैगम्बर भी उसकी इच्छा के बिना कुछ नहीं कर सकते।"

मुहम्मद साहब के धर्म प्रचार के प्रयत्नों के साथ ही साथ मक्का निवासियो, विशेषकर कुरैश-परिवार के लोगों की चिन्ता भी बढती गई। क्योकि उन्हें मुहम्मद साहब के धर्म प्रचार मे अपनी स्वेच्छाचारिता, कामुकता, जुआबाजी, मद्य पान, परम्परा से चली आई कु प्रथाओं, रूढियों तथा सब से बढ़कर अपनी सरदारी का अन्त दिखाई देता था

लोगो ने कई बार उनके चचा अबुतालिब से शिकायत की, परन्तु वे समझा बुझाकर लोगों को टालते रहे। जब तङ्ग आगये तो एक दिन मुहम्मद साहब को बुलाकर बोले—

'मुहम्मद! मुझ पर इतना बोझ डालो कि उठा सकूँ।'

मुहम्मद साहब ने कहा—

'प्यारे चचा! यदि कोई मेरे एक हाथ में चाँद और दूसरे में सूरज रख दे, तब भी मैं अपने काम से मुँह न मोड़ूँगा। या तो ईश्वर मुझे सफल ही करेगा। या अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये मैं अपनी जान तक भी बलिदान करूँगा।'

चचा पर इन शब्दों तथा मुहम्मद साहब के दृढ निश्चय का बहुत प्रभाव हुआ। उन्होंने कहा—

'वत्स! जाओ और अपना काम करो। मैं तुम्हारे साथ हूँ। कोई तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता।'

अपने इस अटल निश्चय और नवीन अध्यवसाय के कारण मुहम्मद साहब को भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। लोग राह चलने में गालियाँ देते, ईंट, पत्थर बरसाते और धूल डालते। अबुलजहल की स्त्री काँटे चुन लाती और मुहम्मद साहेब के मार्ग में बिखेर देती। कुछ लोग दरवाजे पर गन्दगी फेंक जाते। एक बार आप नमाज पढ़ रहे थे कि एक विरोधी चादर गले में डालकर

खींचने लगा। अचानक अबुबकर उधर आ निकले और जान बची।

एक दूसरे अवसर पर नमाज़ पढ़ते समय विरोधियों ने ऊँट की ओझड़ी आपकी कमर पर डाल दी और हँसने लगे।

विरोध के साथ-ही-साथ मुहम्मद साहब का धैर्य, दृढ़ता और उत्साह भी बढ़ते ही जाते थे। विरोधियों ने सोचा, 'मुहम्मद साहब को मान और बड़ाई की इच्छा है। वह लोकेषणा की पूर्ति के लिए ही ये 'ढकोसले' कर रहा है।' उन्होने अपना एक 'उतबा' नामक दूत मुहम्मद के पास भेजा। उसने कहा—'मुहम्मद! आखिर हमें भी तो ज्ञात होना चाहिये कि इस सब प्रयत्न से तुम्हारा क्या उद्देश्य है? किसी बड़े घर मे शादी कराना चाहते हो? मक्के का रईस बनने की इच्छा है? धन की अभिलाषा है? कोई बीमारी है कि हम उसका इलाज करायें, तुम जो कहो हम उसके लिए तैयार हैं।'

उतबा ने सोचा था, अवश्य ही मुहम्मद साहब इनमे से एक या अधिक बातों पर सन्तुष्ट हो जायेंगे। परन्तु मुहम्मद साहब ने उसे कुरआन के शब्दों में बहुत ही सुन्दर उत्तर देकर, चुप कर दिया। कहा—

'अय मुहम्मद! कह दो कि मैं तुम ही जैसा एक आदमी हूँ और ईश्वर का सन्देश (वही) मेरे पास आया है।

तुम्हारा ईश्वर बस एक ईश्वर है। इसलिये तुम सीधे उसकी ओर आजाओ और अपने पापाचरण के लिये क्षमा-प्रार्थना करो।' (सूरत उलूसजदत पारा २४)

उरवा अपना-सा मुँह लेकर चला गया। इन्हीं दिनों श्रीमान् हमजा और श्रीमान् उमर-जैसे प्रभावशाली सज्जन भी मुहम्मद साहब के अनुयायी बन गये और मुसल्मानों को बहुत सहारा मिल गया। हमजा और उमर के मुसल्मान होने की कथा बड़ी रोचक एव शिक्षाप्रद है। उसका संक्षिप्त उल्लेख आगे किया जाता है—

श्रीमान् हमजा अत्यन्त पराक्रमी और विचारवान् सज्जन थे। रिश्ते मे मुहम्मद साहब के चचेरे भाई लगते थे। एक दिन अबुलजहल ने मुहम्मद साहब का अपमान किया। हमजा की दासी उस घटना को देख रही थी। उसने हमजा से कहा। हमजा को यह सुनकर भारी आवेश आया। वह आवेश में ही अबुलजहल के पास गया। जाते ही एक कमान जोर से उसके सिर मे मारी और कहा—"मैं मुसल्मान होगया, कर ले मेरा तू क्या कर सकता है?" उसे डॉट-फटकारकर मुहम्मद साहब के पास पहुँचे। बोले—"भतीजे, प्रसन्न हो,जाओ, अबुलजहल से मैंने तुम्हारा बदला ले लिया" मुहम्मद ने कहा—"मुझे तो उस समय प्रसन्नता होगी, जब आप इस्लाम स्वीकार करेंगे।" हमजा ने इस आग्रह को स्वीकार कर लिया।

उमर के मुसलमान होने की घटना और भी विचित्र है—

"ये बड़े वीर, परन्तु इस्लाम विरोधी सज्जन थे। इनकी एक दासी मुसल्मान हो गई थी। उसे ये बुरी तरह मारते। जब मारते मारते थक जाते, तब कहते, अच्छा ज़रा दम ले लूँ, फिर तेरी खबर लूँगा।"

उमर की बहिन फातमा और बहनोई सईद गुप्त रूप से मुसल्मान हो चुके थे, परन्तु उमर को इसका पता न लगा था। एक दिन उमर ने मुहम्मद साहब के वध का निश्चय किया और कमर से तलवार बाँधकर घर से निकल पड़े।

रास्ते में एक सज्जन 'नईम' ने पूछा "किधर?" बोले—"मुहम्मद को वध करने जारहा हूँ।" उसने कहा—"पहिले अपने घर की तो खबर लो। तुम्हारी बहिन और बहनोई मुसल्मान हो चुके हैं।" यह सुना तो क्रोध से उबलते हुए बहिन के घर पहुँचे। वे उस समय क़ुरआन् पढ़ रहे थे। जाते ही बहिन बहनोई की खूब खबर ली, मार-मारकर लोहू लुहान कर दिया। आख़िर क्रोध घटा और बहिन की मुहब्बत ने जोश मारा। अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। कहने लगे-- 'तुम अभी क्या पढ़ रहे थे?" उन्होंने क़ुरआन के पृष्ठ लाकर सामने रख दिये। उमर ने पढ़ा, तो झट मुसल्मान बन गया और मुहम्मद साहब को सूचना देने के लिए दौड़ा दौड़ा गया।

मुहम्मद साहब के अनुयायी, जिन्होने आरम्भ में सद्धर्म को ग्रहण किया और जिनके भरोसे मुहम्मद साहब ने अपने आन्दोलन को सार्वजनिक रूप देकर सफलता प्राप्त की, उन बेचारों को जो घोर विपत्तियाँ सहन करनी पड़ीं, वे और भी भयकर थीं।

श्रीमान् बलाल एक हब्शी था। यह मुसलमान बना तो बेचारे पर सकट का पहाड़ टूट पड़ा। उसका स्वामी अमिया गर्मी की दोपहर में उसे गरम-गरम रेत पर लेटा देता और छाती पर पत्थर रख देता। कभी-कभी गले में रस्सी डालकर दुष्ट लडको के हवाले कर देता और वे इसे शहर मे घसीटते फिरते। परन्तु यह प्रभु का प्यारा ईश्वर के नाम की रट लगाता और सब सङ्कट ठण्डे दिल से झेलता जाता था।

बिन अलारस एक और मुसलमान था उसे विरोधियों ने भीषण यातना पहुँचाई। दहकते अंगारों पर चित्त लिटा दिया और तब तक न छोड़ा जब तक कि अगारे शान्त न हो गये। कमर झुलस गई। खाल उड गई। सफेद दाग पड गये, परन्तु धर्म पर दृढ रहे।

उम्मार बिन यासर।एक और वीर था। मुसलमान होने के अपराध में उसे गरम रेत पर सुलाते और मार-मारकर बेहोश कर देते थे उनकी माँ सम्य्या को तो मुसलमान होने के अपराध में अबुलजहल ने बरछी मारकर

शहीद ही कर दिया। उनके पिता यासर भी मुसलमान होने के अपराध में अनेकश कष्ट भोगते रहे और अन्त में इन कष्टों के कारण ही पचत्व को प्राप्त हुए। मुसलमान होने मात्र के अपराध में ही और भी बहुत से स्त्री पुरुषों को भारी कष्ट उठाने पडे। बहुत-से शहीद हो गये और बहुत से अपाहिज। एक बड़ी संख्या जीते-जी क़ब्र में थी, जिस पर नित्य नूतन प्रहार हुआ करते थे। कुछ जहाँ तहाँ छिपते फिरते थे। बहुत सोच विचार और साथियों से परामर्श करके मुहम्मद साहब ने अपने बहुत से अनुयायी जहाज में बैठाकर देश हब्श को रवाना कर दिये, जहाँ वे हब्श के बादशाह नजाशो के शरणागत होकर रहने लगे।

जब सब उपाय विफल हुए तो विरोधियों ने मिलकर निश्चय किया कि 'जब तक अबुतालिब मुहम्मद साहब को वध के लिए हमें न सौंप दें, तब तक उनके समस्त परिवार का सामाजिक बहिष्कार किया जाये। इनके साथ कोई लेन देन और बातचीत भी न करे। खाने को एक दाना भी उन तक न पहुँचने दिया जाये।'

अबुतालिब के लिये यह बहुत सङ्कट का समय था और उन्होंने तीन वर्ष जहाँ-तहाँ छिपकर और भारी विपत्तियाँ उठाकर विताये। आखिर लोगों को उन पर कुछ दया आगई और किसी ने उक्त निश्चय की परवा न की।

कष्ट आगे ही कुछ कम न थे कि इसी बीच में अबुता-

लिब की मृत्यु हो गई। इसके तीन दिन पश्चात् खदीजा का भी देहान्त हो गया। मुहम्मद साहब को इन दोनों मौतों से अपार कष्ट पहुँचा, इसलिये उन्होंने इस वर्ष का नाम ही 'शोक का वर्ष' रख दिया।

अब लोग और भी सताने लगे। एक बार मुहम्मद साहब प्रचारार्थ ताईफ ग्राम में गये। वहाँ दुष्ट विरोधियों और लड़कों ने उनसे बहुत दुर्व्यवहार किया। टाँगों पर इतने पत्थर मारे कि जूतियाँ खून से भर गईं। इस पर भी ईश्वर से यही प्रार्थना करते रहे कि 'हे ईश्वर, मेरी जाति को ज्ञान दे, यह जानती नहीं।'

हज्ज के दिनों में जब दूर दूर से लोग आकर मक्के में जमा होते तो मुहम्मद साहब उन्हें सद्धर्म का उपदेश सुनाते। अरब के मेलों में भी प्रचारार्थ जाया करते थे। परन्तु विरोधी पहिले से-पहिले ही लोगों को भड़का देते थे।

मदीने के कुछ लोगों ने मक्का पहुँचकर इस्लाम की दीक्षा ली थी। इधर काम करने का क्षेत्र और लोगों का उत्साह भी अच्छा था। जब मक्के में मुहम्मद साहब का विरोध बहुत बढ़ा और प्रति क्षण प्राणों का खटका रहने लगा तो मुहम्मद अबुबकर प्रभृति कुछ प्रमुख साथियों-सहित गुप्त रूप में मक्के से निकले और मदीने पहुँच गये। यहाँ उनका अच्छा स्वागत हुआ। तत्पश्चात् मक्के - आदि

से मुहम्मद साहब के और अनुयायी भी आ आकर मदीने में बसने लगे।

मदीना मक्के से प्राय दो सौ मील दूर अरब का दूसरा प्रसिद्ध नगर है। यहाँ ही मुहम्मद साहब की समाधि बनी हुई है। पहिले यह नगर यशरब के नाम से प्रसिद्ध था। बाद में नबी का मदीना (नगर) कहलाने लगा। फिर केवल मदीना। मुहम्मद साहब के मक्का छोड़कर मदीना जाने की घटना के स्मारक स्वरूप ही इस्लामी सन् चला है, जो कि हिजरी सन् कहलाता है।

किसी से अनुचित लाभ उठाने के वे घोर विरोधी थे। एक बार मदीने में मस्जिद बनाने के लिये उन्होने एक स्थान चुना। दो अनाथ बालक उस स्थान के स्वामी थे। उन्होने बिना मूल्य स्थान देना चाहा, परन्तु आपने यतीमो का माल मुफ्त लेना उचित न समझा और अपने एक अनुयायी से मूल्य दिला दिया। जब मस्जिद बनने लगी तो स्वय भी दूसरे लोगों के साथ ईंट, पत्थर ढोने में शामिल रहते थे। इस समय यह मस्जिद नबवी के नाम से प्रसिद्ध है। मस्जिद से सलग्न ही मुहम्मद साहब की धर्म-पत्नियों के मकानात भी बनाये गये। मकानात क्या थे, कच्ची ईंटों और खजूर की टट्टियो से भूमि घेर दी गई थी।

मदीने में ही आपने एक प्रचारक-दल का सगठन भी किया। इन प्रचारकों का घर-बार कुछ न होता था।

ये स्वय-सेवक थे और अपना जीवन ईश्वर तथा मुहम्मद साहब की आज्ञा-पालन और समाज-सेवा के लिये समर्पित कर चुके थे। प्रभु भक्ति मे मस्त रहना तथा अपने सेवा-व्रत की पूर्ति के लिए तैयारी और तपस्या, यही उनका काम था। इनमें से कुछ लोग जगल से लकडियाँ तोड लाते और बेचकर निर्वाह करते। कभी कभी दो दो दिन उपवासी रह जाते। वस्त्रो की यह अवस्था थी कि तहमद है तो चादर नहीं, चादर है तो तहमद नहीं।

मुहम्मद साहब को इनसे विशेष प्रेम था। कहीं से 'भेंट' आती तो सारी की सारी इन्हीं के पास भेज दी जाती। दिन में ये लोग मुहम्मद साहब की सेवा में रहते। क़ुरआन् पढते। दीन की बातें सीखते और रात के समय प्राय उपासना में लीन रहते। सद्धर्म का प्रचार करने नव-दीक्षितो को धर्म की बातें सिखाने आदि के लिए ये ही लोग भेजे जाते थे। इनमें से जो विवाह कर लेता, 'सघ' से पृथक् कर दिया जाता।

मदीने मे मस्जिद तो बन गई, परन्तु नमाज़ के समय की सूचना देने के लिए कोई उपाय न था, इसलिए बाँग देने की प्रथा चलाई गई।

मदीने में यहूदियो की एक बड़ी सख्या निवास करती थी। ये लोग श्रीमान मूसा को अपना पैगम्बर मानते थे और धनीमानी और बुद्धिमान थे। मुहम्मद साहब को

ओर से अनेक आशंकाएँ और खटके लगे रहते थे। वे उनसे समझौते की चिन्ता मे रहा करते थे। आखिर समझौता हो गया, जो कि इस प्रकार था—

१—यहूदियों को धार्मिक स्वतन्त्रता होगी।

२—यहूदी और मुसलमान परस्पर मित्र भाव रखेंगे।

३—कुरेश (मक्केवालों) को दोनों मे से कोई शरण न देगा।

४—मदीने पर आक्रमण होगा तो दोनों मिलकर सामना करेंगे।

५—यहूदियों या मुसलमानों का किसी से युद्ध होगा तो एक वर्ग दूसरे वर्ग का सहायता करेगा।

होने का समझौता हो गया, परन्तु झगड़े झंझट फिर भी बहुतेरे होते रहे। कभी यहूदियों के कारण, कभी नक़ली मुसलमानों (मनाफ़कों) के कारण और कभी मक्केवालों के कारण। इन झगड़ों में बदर का युद्ध, सोवेक का युद्ध, अहद का युद्ध, अहज़ाब का युद्ध, ख़ैबर का युद्ध, मोता का युद्ध और मक्के का युद्ध विशेष प्रसिद्ध हैं। मक्का विजय के पश्चात भी युद्धों का यह क्रम जारी ही रहा और हनैन और ताईफ आदि के युद्ध होते रहे। इन युद्धों मे जान और माल की भारी हानि हुई, परन्तु सद्धर्म ने पाप पर विजय पाई। इन युद्धों का विस्तृत वर्णन तो हमारे लिए अशक्य है,

परन्तु एक-दो घटनाओं के उल्लेख का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते।

मुहम्मद साहब का एक अनुयायी हबीब विरोधियों के हाथ पड़ गया। उसे सूली देने से पहिले कहा गया—"सद्धर्म को त्याग दो तो छोड़ दिये जाओगे?" उसने उत्तर दिया—"धर्म के बिना जीवन किस काम का?" विरोधियों ने उस वीर मनुष्य को हजारों तमाशाइयों के सामने भाले मार-मारकर शहीद कर दिया। अन्तिम समय जो गीत उसने गाया, उसका भाव था—

"लोगों का झुंड मेरे चारों ओर खड़ा है, उन्होंने अपनी औरतों और बच्चों को भी तमाशा देखने के लिए बुला रखा है। वे कहते हैं, धर्म को त्याग दूँ तो मुझे स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। परन्तु मेरे लिए इससे सरल तो मौत है। जगन्नियन्ता प्रभु ने मुझ से कोई सेवा लेनी चाही है और मुझे धैर्य क लिए कहा है। अब उन्होंने मेरा सम्पूर्ण शरीर छलनी कर दिया। मैं निराश हो चुका हूँ। मैं अपनी नम्रता, परदेशी जीवन और असहाय अवस्था के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ। जब मैं धर्म के लिए जान देरहा हूँ तो यह चिन्ता नहीं है कि मैं किस करवट गिरता हूँ और क्योंकर जान देता हूँ। यदि ईश्वर चाहे तो मेरी बोटी-बोटी को आशीर्वाद दे सकता है।"

ज़ैद एक और वीर था। उस से भी विरोधियों ने

तेमे ही प्रश्न किये और उसने भी वीरोचित उत्तर दिये। अन्त में लोग तमाशा देखने को एकत्रित हुए और उसका सिर धड़ से जुदा कर दिया गया।

मुसलमानों को मक्के से निकले प्राय छः वर्ष हो चुके थे। लोग मक्के लौटने के लिए बेचैन हो रहे थे। कुछ के बाल-बच्चे मक्के में ही थे। किसी को स्वदेश का प्रेम खींच रहा था, किसी को बन्धु-बान्धव का मोह। कोई-कोई हज के लिए मक्के जाना चाहते थे। मुहम्मद साहब ने यह अवस्था देखी तो चौदह सौ आदमियों का क़ाफ़िला और क़ुरबानी के ऊँट साथ लेकर हज के लिए मक्के को चल पड़े।

परन्तु मक्केवाले इनके मक्के प्रवेश के विरोधी थे। मरने मारने को तैयार होकर मैदान मे निकल आये। आखिर निम्न लिखित समझौता हो गया—

१—मुसलमान इस वर्ष हज न करें।

२—दूसरे वर्ष आएँ और तीन दिन ठहरकर चले जाएँ।

३—सिवाय तलवार के कोई वस्तु साथ न ला"।

४—मक्के में जो मुसलमान बसते हैं, ...
को साथ न ले जाएँ और मुसलमानों
मक्के में रहना चाहे तो उसे न रोकें

५—मक्का निवासियों में से कोई ...
लौटा दिया जाये।

परन्तु एक-दो घटनाओं के उल्लेख का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते।

मुहम्मद साहब का एक अनुयायी हबीब विरोधियों के हाथ पड़ गया। उसे सूली देने से पहिले कहा गया—"सद्धर्म को त्याग दो तो छोड़ दिये जाओगे?" उसने उत्तर दिया—"धर्म के बिना जीवन किस काम का?" विरोधियों ने उस वीर मनुष्य को हजारों तमाशाइयों के सामने भाले मार-मारकर शहीद कर दिया। अन्तिम समय जो गीत उसने गाया, उसका भाव था—

"लोगों का झुंड मेरे चारों ओर खड़ा है, उन्होंने अपनी औरतों और बच्चों को भी तमाशा देखने के लिए बुला रखा है। वे कहते हैं, धर्म को त्याग दूँ तो मुझे स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। परन्तु मेरे लिए इससे सरल तो मौत है। जगन्नियन्ता प्रभु ने मुझ से कोई सेवा लेनी चाही है और मुझे धैर्य के लिए कहा है। अब उन्होंने मेरा सम्पूर्ण शरीर छलनी कर दिया। मैं निराश हो चुका हूँ। मैं अपनी नम्रता, परदेशी जीवन और असहाय अवस्था के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ। जब मैं धर्म के लिए जान दे रहा हूँ तो यह चिन्ता नहीं है कि मैं किस करवट गिरता हूँ और क्योंकर जान देता हूँ। यदि ईश्वर चाहे तो मेरी बोटी-बोटी को आशीर्वाद दे सकता है।"

जयीद एक और वीर था। उस से भी विरोधियों ने

ऐसे ही प्रश्न किये और उसने भी वीरोचित उत्तर दिये। अन्त में लोग तमाशा देखने को एकत्रित हुए और उसका सिर धड़ से जुदा कर दिया गया।

मुसलमानों को मक्के से निकले प्राय छः वर्ष हो चुके थे। लोग मक्के लौटने के लिए बेचैन हो रहे थे। कुछ के बाल बच्चे मक्के मे ही थे। किसी को स्वदेश का प्रेम खींच रहा था, किसी को बन्धु बान्धव का मोह। कोई-कोई हज के लिए मक्के जाना चाहते थे। मुहम्मद साहब ने यह अवस्था देखी तो चौदह सौ आदमियों का काफ़िला और कुरबानी के ऊँट साथ लेकर हज के लिए मक्के को चल पड़े।

परन्तु मक्केवाले इनके मक्के प्रवेश के विरोधी थे। मरने मारने को तैयार होकर मैदान में निकल आये। आखिर निम्न लिखित समझौता हो गया—

१—मुसलमान इस वर्ष हज न करें।

२—दूसरे वर्ष आएँ और तीन दिन ठहरकर चले जाएँ।

३—सिवाय तलवार के कोई वस्तु साथ न लाएँ।

४—मक्के में जो मुसलमान बसते हैं, उनमें से किसी को साथ न ले जाएँ और मुसलमानों में से कोई मक्के में रहना चाहे तो उसे न रोकें।

५—मक्का निवासियों में से कोई मदीने जाये तो लौटा दिया जाये।

६—सब घरानो (कबीलों) को स्वतन्त्रता होगी कि चाहे मुसलमानो से समझौता करें या मक्केवालो से।

७—एक धारा यह भी थी कि एक पक्ष दूसरे पक्ष के विरोधी की सहायता के लिए तलवार न उठाये।

इनसे स्पष्ट है कि मुहम्मद साहब को दबकर समझौता करना पड़ा था। मुसलमानो को यह बात बहुत बुरी लगी। उमर प्रभृत्ति कुछ जोशीले लोगो ने इसका विरोध भी किया, परन्तु मुहम्मद साहब ने समझा बुझाकर सब को शान्त कर दिया। कहा—"प्रतीक्षा करो और देखो।"

मुहम्मद साहब ने पत्र भेज भेजकर ईरान, रोम, हब्श-आदि के बादशाहों तथा अरब के अनेक जमींदारो-आदि को सद्धर्म-प्रवेश का निमन्त्रण दिया, जो कि कुछ ने स्वीकार किया। मुहम्मद साहब के पश्चात् भी चिर-काल तक ये पत्र सन्धि-विग्रह का कारण बने रहे।

एक वर्ष पश्चात् मुहम्मद साहब दस हज़ार से भी अधिक मुसलमानो की सेना लेकर मक्के की ओर बढे। विरोधी डर गये और बिना लड़े ही मक्के पर मुहम्मद साहब का अधिकार हो गया। इस अवसर पर एक विराट् सभा में भाषण देते हुए आपने कहा—

"सज्जनो! अजिया और जात-पात का अभिमान भगवान् ने चकनाचूर कर दिया है। सब मनुष्य आदम की सन्तान हैं और आदम पार्थिव प्राणी थे। अब लोगो!

नरमी करना, जिस प्रकार उनके ऊपर तुम्हारा अधिकार है, उनके भी तुम पर कुछ अधिकार हैं। नौकरों के साथ अच्छा व्यवहार करना, जो स्वयं खाओ, वही उन्हें खिलाना। जो स्वय पहिनना, वही उन्हें पहिनाना। उनसे कोई अपराध हो जाये तो क्षमा कर देना। अरबी से विदेशी और विदेशी से अरबी में कोई विशेषता नहीं है। सब भाई भाई हैं। तुम्हारे किसी भाई की कोई वस्तु उस समय तक तुम्हारे काम की नहीं, जब तक वह स्वय प्रसन्नता-पूर्वक न दे।" आदि आदि।

मृत्यु से तीन-चार दिन पूर्व मस्जिद मे नमाज़ के पश्चात उपदेश देते हुए आपने कहा—'तुमसे पहिली जातियाँ अपने पैगम्बरों और पूर्वजों की समाधियों को पूजने लगी थी। तुम ऐसा न करना, मैं सावधान किये जाता हूँ। मनुष्य को ईश्वर की ओर से जो कुछ शुभ या अशुभ फल मिलेगा। वह उसके कर्मों के अनुसार ही होगा।"

भाषण के पश्चात् कहा—"किसी का मैंने कुछ देना हो तो माँग लो।"

एक व्यक्ति ने कहा—"मेरे तीन दरम चाहियें, आपने उधार लेकर दान दिये।" यह उसी समय दे दिये गये।

मुहम्मद साहब मदीना मे पैदा हुए। चालीस वर्ष की आयु मे देवदूत और 'मानव धर्म' के प्रचारक बने। तेरह

वर्ष मक्के में और दस वर्ष मदीने में रहकर कुल तेईस वर्ष तक धर्म प्रचार किया। इन तेईस सालों में ही आवश्यकता के अनुसार थोड़ा थोड़ा करके उन्हें ईश्वरीय ज्ञान (कुरआन) प्राप्त होता रहा और पूर्ण हुआ। ६३ वर्ष की आयु में सन् ११ हिजरी तदनुसार ८ जून, सन् ६३२ ईस्वी में मदीने में ही स्वर्गवासी हुए, जहाँ कि उनकी भव्य समाधि बनी हुई है।

उनका जीवन आदर्श और अनेक शिक्षाप्रद घटनाओं से परिपूर्ण था। मानवता मुहम्मद साहब के रूप में पूर्ण तया विकसित हुई थी। आपकी मीठी बोली और तेजस्वी व्यक्तित्व का लोगों पर विशेष प्रभाव होता था। आपने कट्टर-से कट्टर विरोधियों और घात के लिये समुद्यत लोगों को भी क्षमा कर देने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। विवेक को कभी हाथ से न जाने देते थे।

उन्हें स्वतन्त्रता से प्रेम था और अरब निवासियों को उन्होंने सब प्रकार की स्वतन्त्रता का उपभोग कराया। शारीरिक, आत्मिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता। रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों को उन्होंने छिन्न भिन्न कर दिया। अनेक दलों और वर्गों में विभक्त तथा परस्पर विद्वेष की अग्नि में झुलसे जारहे हैं। अविद्या-ग्रस्त अरब निवासियों को भ्रातृ-भाव की पवित्र भवानाओं के प्रचार-द्वारा एक महान् शक्तिशाली जाति के रूप में परिवर्तित कर दिया।

नरमी करना, जिस प्रकार उनके ऊपर तुम्हारा अधिकार है, उनके भी तुम पर कुछ अधिकार हैं। नौकरों के साथ अच्छा व्यवहार करना, जो स्वयं खाओ, वही उन्हें खिलाना। जो स्वय पहिनना, वही उन्हें पहिनाना। उनसे कोई अपराध हो जाये तो क्षमा कर देना। अरबी से विदेशी और विदेशी से अरबी मे कोई विशेषता नहीं है। सब भाई भाई हैं। तुम्हारे किसी भाई की कोई वस्तु उस समय तक तुम्हारे काम की नहीं, जब तक वह स्वय प्रसन्नता-पूर्वक न दे।" आदि आदि।

मृत्यु से तीन-चार दिन पूर्व मस्जिद मे नमाज के पश्चात् उपदेश देते हुए आपने कहा—'तुमसे पहिली जातियाँ अपने पैगम्बरो और पूर्वजों की समाधियो को पूजने लगी थी। तुम ऐसा न करना, मैं सावधान किये जाता हूँ। मनुष्य को ईश्वर की ओर से जो कुछ शुभ या अशुभ फल मिलेगा। वह उसके कर्मों के अनुसार ही होगा।"

भाषण के पश्चात् कहा—"किसी का मैंने कुछ देना हो तो माँग लो।"

एक व्यक्ति ने कहा—"मेरे तीन दरम चाहियें, आपने उधार लेकर दान दिये।" यह उसी समय दे दिये गये।

मुहम्मद साहब मदीना में पैदा हुए। चालीस वर्ष की आयु में देवदूत और 'मानव धर्म' के प्रचारक बने। तेरह

शत्रुओं के साथ भी वे नम्रता और दया का व्यवहार करते थे। उन्हें एक यहूदी का क़र्ज़ा देना था। यहूदी निश्चित दिन से पूर्व ही माँगने आ खड़ा हुआ। ज़ोर से चादर खींचने और कहने लगा—"अय अब्दुल्मतलब की औलाद ! तू सदा इसी प्रकार टाल मटोल करता रहता है।" उमर ने उसे इस धृष्टता के लिए डाँटा। मुहम्मद साहब ने मुस्कराकर उमर से कहा—"उमर ! तुम्हें चाहिए था, इसे कहते कि नरमी से तक़ाज़ा करो और मुझे कहते कि ऋण चुकता कर दूँ।" उसी समय उसका हिसाब चुकता कर दिया और क्योंकि उमर ने उससे दुर्व्यवहार किया, इसलिए कुछ अधिक दिलाया।

विरोधी भी उनके न्याय की प्रशंसा करते और उनके पास न्याय कराने आया करते थे। एक बार एक स्त्री ने चोरी की। यह ज़रा धनी और प्रतिष्ठित परिवार की थी। लोग चाहते थे कि यह घटना किसी प्रकार यूँ ही दब जाये। उसको छोड़ने के लिए सिफ़ारिश भी उनके पास पहुँचाई गई। वे इस पर नाराज़ होकर कहने लगे—"यदि मेरी बेटी फ़ातमा भी यह अपराध करती तो अवश्य ही उसे भी यही दण्ड दिया जाता।"

मार्ग में स्त्री-पुरुष, बच्चा, बूढ़ा कोई भी मिलता तो पहिले स्वयं उसका अभिवादन करते। कैसे ही बुरे आदमी मिलने आते, अत्यन्त नम्रता से उनके साथ वार्तालाप

किसी से अनुचित लाभ उठाने के वे कट्टर विरोधी थे। उनकी शिक्षा "पर-उपदेश कुशल बहुतेरे" के समान न थी। जो ज्योति उन्होंने संसार मे प्रज्वलित की, सर्व प्रथम अपने घर में ही उसको जगाया। अपने परिवार कुटुम्ब, नगर, जाति, देश आदि का क्रमशः पूर्ण विचार रखा। अपने आहार और विश्राम तथा समय-विभाग का वे विशेष ध्यान रखते थे। शराब के कट्टर विरोधी थे। पवित्र कुरआन् ने शराब को हराम ठहराया है। सार यह कि जब तक जीवित रहे 'मनसा वाचा कर्मणा' मनुष्य-जाति की सेवा मे संलग्न रहे और इस्लाम के रूप मे अपने अनुयायी वर्ग का संगठन करके युग युगान्तर पर्यन्त के लिये स्वयंसेवकों की सेना प्रस्तुत कर गये।

एक बार एक स्त्री ने मुहम्मद साहब के खाने मे विष मिला दिया। आपको प्रथम ग्रास में ही पता चल गया और खाना छोड़ दिया, परन्तु उस स्त्री को कोई दण्ड नहीं दिया।

एक बद्दू ने मुहम्मद साहब के गले मे चादर डालकर इस जोर से खैंची कि गला लाल होगया और अत्यन्त गँवारपन से कहने लगा—"मुहम्मद, जो कुछ माल तेरे पास है, वह न तेरा है, न तेरे बाप का। मेरे दो ऊँटों पर अनाज लाद दे।" मुहम्मद साहब ने जौ और खजूरें भी उसके ऊँटो पर लाद दीं और कुछ न कहा।

भीख माँगना और बिना आवश्यकता के याचना करना बड़ी बेशर्मी की बात है। इससे उन्हें घृणा थी। एक सज्जन चुकाने की चिन्ता में घुले जाते थे। मुहम्मद साहब से माँगने आये तो उन्होंने उसकी आवश्यकता पूर्ण करने का वचन दिया। साथ ही कहा कि—"केवल तीन प्रकार के लोगों को दूसरों के सामने हाथ फैलाने का अधिकार है—

१—जिन पर ऋण हो, परन्तु ऋण मुक्त होने पर उन्हें किसी से कुछ न माँगना चाहिये।

२—जिस पर कोई विपत्ति आ पड़े और उसे आर्थिक हानि पहुँचे।

३—जो कई दिन से भूखा हो और तीन आदमी गवाही दें।

इनके अतिरिक्त जो माँगकर खाता है, हराम खाता है।'

एक आदमी उनके पास आया। बेचारा बहुत ही गरीब था। अपनी अवस्था बताकर कुछ माँगने लगा। मुहम्मद साहब ने कहा—'घर में कुछ है भी ?' बोला, 'एक बिछौना और पानी पीने का प्याला।' कहा, उन्हें ले आ। वह ले आया। दोनों दो दरम में बेचकर उसे बोले, 'ले एक दरम की रोटी ले और एक की रस्सी। जगल से लकड़ी लाकर बेचा कर।' वह इसी प्रकार करने लगा। थोड़े दिन पश्चात फिर मिला। अब उसके पास पैसे हो गये थे।

करते। कहा करते थे कि—"वह व्यक्ति बहुत ही बुरा है, जिसकी वाणी की कठोरता के कारण लोग उससे मिलना-जुलना छोड दें।"

दूसरे की आवश्यकता को सदा अपने से बढकर मानते थे। एक बार एक अतिथि आया। घर मे केवल थोड़ा-सा बकरी का दूध था। वही अतिथि देवता को पिला दिया और घर-भर ने उपवास किया। इससे पहिला दिन भी उपवास से ही बीता था। उन्होने घोषणा कर रखी थी कि "कोई मुसलमान क़र्ज़दार मरे तो उसका कर्ज़ मैं दूँगा। यदि कुछ छोड़ जाये तो वह उसके सम्बन्धियों का, मुझे उससे गरज़ नहीं।"

खाने-पीने की ज़रा-ज़रा-सी चीज़ें भी दूसरों को बाँट-कर, तब खाते थे। जो अनुपस्थित होता, उसका भाग उठाकर रख देते।

एक बार कहीं से बहुत सा माल आया। सब मस्जिद में ढेर करा दिया गया और थोड़ी देर में सब बाँटकर मैदान साफ कर दिया। प्राय कहते थे—"देनेवाला तो परम पिता परमात्मा है, मैं तो उसका खजाची या बाँटने-वाला हूँ।"

एक बार एक अतिथि आया। वह बड़ा पेटू था। सात बकरियो का दूध पी गया। जब तक उसने बस न किया, बराबर दूध पिलाते रहे।

गहन तथ्य का रहस्योद्घाटन और तत्त्व-विवेचन कबीर की विशेषता है। विद्वज्जन और जन-साधारण सभी कबीर की रचना में रस पाते हैं। कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ने कबीर के पद्यों का अँग्रेजी अनुवाद किया है।

कबीर की जीवनी के लिए कबीर पन्थी साधुओं में प्रचलित दन्त कथाओं, भक्तमाल, बीजक आदि ग्रन्थों तथा कुछ आधुनिक साहित्य से थोड़ी-सी सामग्री उपलब्ध होती है। उसी के आधार पर प्रस्तुत पुस्तिका-द्वारा कबीर के चरणों में मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहा हूँ। वास्तव में कबीर-चरित्र निर्णायक सामग्री उपलब्ध नहीं है।

कबीर का जन्म पन्द्रहवीं शताब्दी में बनारस के पास किसी ग्राम में हुआ था। कबीर के धार्मिक सिद्धान्त अत्यन्त उदार और अद्वैतवाद के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। कबीर एक ही समय में महा-मनुष्य, ऊँची श्रेणी का भक्त, मानव धर्म प्रचारक और सुकवि था।

काशी का एक मुसलमान जुलाहा नीरू, अपनी पत्नी नीमा का द्विरागमन कराकर लौट रहा था कि उसको लहरतारा तालाब के किनारे एक नवजात शिशु पड़ा मिला। दयावान् दम्पति ने उसे ईश्वरीय देन समझकर उठा लिया और पुत्रवत् पाला पोसा। काजी ने बालक का नाम कबीर रख दिया।

वह शिशु तालाब के किनारे कहाँ से आया? अपने

सन्त कबीर 'मानव-धर्म' का अनन्य प्रचारक था। उसने धार्मिक विधि विधान के एच-पेच को ढीला किया। रूढ़ियों को हटाया, कुप्रथाओं का डटकर विरोध किया। वह जीवन-पर्यन्त विशुद्ध मानव-धर्म का सरल, सुलभ और संक्षिप्त संस्करण तैयार करने में व्यस्त रहा और अन्त में सफल भी हुआ। धन्य हैं, जो उसके दर्शाये हुए कल्याण-मार्गों के पथिक बने हैं।

कबीर पीरी, पैगम्बरी-आदि का दावेदार नहीं था। भक्त आज जो उपाधि चाहें, उसे दे दें। वास्तव में वह मनुष्य के रूप मे ही उत्पन्न हुआ था और मानव-धर्म का प्रचार और पालन करते हुए ही उसने अपनी जीवन-लीला को संवरण किया। यद्यपि वह मोटे पोथों का अध्येयता वा अध्यापक न था, किसी महाविद्यालय का उपाधि-प्राप्त स्नातक क्या, पाठशाला का विद्यार्थी भी वह न बना, परन्तु उसकी अनुभूति को मैं ईश्वर की विशेष देन कहने के लिए विवश हूँ। उसके उपदेश सारगर्भित और हृदय के अन्तस्तल को छूनेवाले हैं। कबीर के उपदेश भावपूर्ण शब्दो और दोहों-आदि के रूप मे छन्दोबद्ध उपलब्ध होते हैं। भाषा, उस समय की बोल-चाल की भाषा है, जिसमें ग्राम्य पुट भी पर्याप्त पायी जाती है। परन्तु साथ ही कविता के सभी गुण उनमें पाये जाते हैं। अत्यन्त सरल, स्वाभाविक और संक्षिप्त सीधी सादी शब्दावली मे

गहन तथ्य का रहस्योद्घाटन और तत्व-विवेचन कबीर की विशेषता है। विद्वज्जन और जन-साधारण सभी कबीर की रचना में रस पाते हैं। कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ने कबीर के पदों का अँग्रेज़ी अनुवाद किया है।

कबीर की जीवनी के लिए कबीर पन्थी साधुओं में प्रचलित दन्त कथाओं, भक्तमाल, बीजक आदि ग्रन्थों तथा कुछ आधुनिक साहित्य से थोड़ी-सी सामग्री उपलब्ध होती है। इसी के आधार पर प्रस्तुत पुस्तिका द्वारा कबीर के चरणों में मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहा हूँ। वास्तव में कबीर-चरित्र-निर्णायक सामग्री उपलब्ध नहीं है।

कबीर का जन्म पन्द्रहवीं शताब्दी में बनारस के पास किसी ग्राम में हुआ था। कबीर के धार्मिक सिद्धान्त अत्यन्त उदार और अद्वैतवाद के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। कबीर एक ही समय में महा-मनुष्य, ऊँची श्रेणी का भक्त, मानव धर्म-प्रचारक और सुकवि था।

काशी का एक मुसलमान जुलाहा नीरू, अपनी पत्नी नीमा का द्विरागमन कराकर लौट रहा था कि उसको लहरतारा तालाब के किनारे एक नवजात शिशु पड़ा मिला। दयावान् दम्पति ने उसे ईश्वरीय देन समझकर उठा लिया और पुत्रवत् पाला पोसा। काज़ी ने बालक का नाम कबीर रख दिया।

वह शिशु तालाब के किनारे कहाँ से आया? अपने

सन्त कबीर 'मानव-धर्म' का अनन्य प्रचारक था। उसने धार्मिक विधि विधान के एच-पेच को ढीला किया। रूढ़ियों को हटाया, कुप्रथाओं का डटकर विरोध किया। वह जीवन पर्यन्त विशुद्ध मानव-धर्म का सरल, सुलभ और संक्षिप्त संस्करण तैयार करने में व्यस्त रहा और अन्त में सफल भी हुआ। धन्य हैं, जो उसके दर्शाये हुए कल्याण-मार्गों के पथिक बने हैं।

कबीर पीरी, पैगम्बरी आदि का दावेदार नहीं था। भक्त आज जो उपाधि चाहें, उसे दे दें। वास्तव में वह मनुष्य के रूप में ही उत्पन्न हुआ था और मानव-धर्म का प्रचार और पालन करते हुए ही उसने अपनी जीवन-लीला को संवरण किया। यद्यपि वह मोटे पोथों का अध्येयता या अध्यापक न था, किसी महाविद्यालय का उपाधि-प्राप्त स्नातक क्या, पाठशाला का विद्यार्थी भी वह न बना, परन्तु उसकी अनुभूति को मैं ईश्वर की विशेष देन कहने के लिए विवश हूँ। उसके उपदेश सारगर्भित और हृदय के अन्तस्तल को छूनेवाले हैं। कबीर के उपदेश भावपूर्ण शब्दों और दोहों-आदि के रूप में छन्दोबद्ध उपलब्ध होते हैं। भाषा, उस समय की बोल-चाल की भाषा है, जिसमें ग्राम्य पुट भी पर्याप्त पायी जाती है। परन्तु साथ ही कविता के सभी गुण उनमें पाये जाते हैं। अत्यन्त सरल, स्वाभाविक और संक्षिप्त सीधी सादी शब्दावली में

जबकि कबीर और लोई अपनी साधुता के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। कबीर मेह बरसते मे लोई को उठाकर चला और युवक के घर जा पहुँचा। इस पर उस कामान्ध युवक की आँखें खुल गयीं और कबीर तथा लोई के चरणों में गिरकर क्षमा प्रार्थना करने लगा।

कबीर ने गरीबी मे सन्तोष से रहना सीख लिया था। उसका कथन है—

गो धन, गज धन, बाज धन, और रतन धन खान।
सब आवे सन्तोष धन, सब धन धूर समान॥

यद्यपि कबीर उदारता का प्रचारक था, पर साथ ही सुधारक भी था। सुधारक के मुकाबले पर बिगाड़क मैदान में न आते, यह कैसे हो सकता है? कहते हैं, जब सिकन्दर लोधी काशी पहुँचा तो विरोधियों ने उसे कबीर के विरुद्ध खूब भड़काया। सम्मुख होने पर कबीर ने 'अहं ब्रह्म अस्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ'। इस अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इससे लोधी और भी कुपित हुआ और उसने इन्हें अनेक यातनाएँ देकर राज्य से निर्वासित कर दिया।

मौलवियों और पंडितो के विरोध से तंग आकर और सिकन्दर लोधी का कोप-भाजन बनकर कबीर को काशी-त्याग करना पड़ा था। कबीर ने लिखा है—

सकल जन्म सिवपुर गँवाया।
मरति बार मगहर उठि धाया॥

ने पाँव पकड़ लिये और 'राम राम' को गुरु-मन्त्र के रूप में ग्रहण किया।

कबीर स्वामी रामानन्द का शिष्य तो बना, पर यह शिष्यत्व नाम मात्र है, रामानन्द और कबीर के राम भिन्न भिन्न हैं।

कबीर की धर्मपत्नी का नाम 'लोई' था। इसकी जन्म-कथा भी कबीर के समान ही है। कहते हैं, एक वन खण्डी वैरागी को गंगा-किनारे लोई में लिपटी हुई नवजात कन्या पड़ी मिली थी। लोई में लिपटी हुई होने के कारण उसका नाम 'लोई' रखा गया। बड़ी होकर उसने स्वेच्छा से कबीर को पति वरा था, इनके कमाल और कमाली-नामक दो सन्तानें थीं। आगे चलकर 'लोई' शिष्या के रूप में कबीर के साथ रहने लगी थी।

कबीर का जीवन प्राय अर्थ-संकट में ही बीता। जब कपड़ा बुनकर बाजार बेचने जाते तो कभी कभी सारे का सारा मूल्य साधु-सन्तों में बाँट आते। उनके घर पर सत्संगी साधुओं का ताँता सा लगा रहता था। एक कथा प्रसिद्ध है—'एक बार कबीर के घर बहुत-से साधु आये, घर में स्वागत-सत्कार के लिए कुछ भी सामग्री न थी, साध्वी 'लोई' ने एकान्त में कबीर से कहा, "एक धनिक-पुत्र मुझ पर आसक्त है, कहो तो उसके पास जाऊँ, वह अवश्य ही कुछ धन देगा।" यह कथा सम्भवतः उस समय की होगी,

जबकि कबीर और लोई अपनी साधुता के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। कबीर मेंह बरसते में लोई को उठाकर चला और युवक के घर जा पहुँचा। इस पर उस कामान्ध युवक की आँखें खुल गयीं और कबीर तथा लोई के चरणों में गिरकर क्षमा-प्रार्थना करने लगा।

कबीर ने गरीबी में सन्तोष से रहना सीख लिया था। उसका कथन है—

गो धन, गज धन, बाज धन, और रतन धन खान।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूर समान॥

यद्यपि कबीर उदारता का प्रचारक था, पर साथ ही सुधारक भी था। सुधारक के मुक़ाबले पर बिगाड़क मैदान में न आते, यह कैसे हो सकता है? कहते हैं, जब सिकन्दर लोधी काशी पहुँचा तो विरोधियों ने उसे कबीर के विरुद्ध खूब भड़काया। सम्मुख होने पर कबीर ने 'अहं ब्रह्म अस्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ'। इस अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इससे लोधी और भी कुपित हुआ और उसने इन्हें अनेक यातनाएँ देकर राज्य से निर्वासित कर दिया।

मौलवियों और पंडितों के विरोध से तंग आकर और सिकन्दर लोधी का कोप-भाजन बनकर कबीर को काशी-त्याग करना पड़ा था। कबीर ने लिखा है—

सकल जन्म सिवपुर गँवाया।
मरति बार मगहर उठि आया॥

करते हैं और कोई मुसलमान। कबीर की शिक्षानुसार तो हिन्दू और मुसलमान—सब केवल मनुष्य और विशाल मानव-धर्म के अनुयायी ही हैं। कबीर की मृत्यु पर भी हिन्दू मुसल्मानों में झगड़ा उठा था। मुसल्मान उसे दफ़नाना चाहते थे और हिन्दू जलाना। परन्तु दैवमाया से शव फूलों के ढेर के रूप मे परिवर्तित हो गया। हिन्दुओं ने आधे फूल लेकर उनकी दाह-क्रिया की। मुसल्मानों ने आधे फूलों को दफ़नाया। हिन्दुओं ने फूलों की भस्म से काशी में समाधि निर्मित की, जो कि 'कबीरचौरा' कहलाती है। मुसल्मानों ने मगहर मे कब्र बनवाई है। ये दोनों ही कबीर-पन्थियों के तीर्थस्थान बन चुके हैं।

पहिले हिन्दू और मुसल्मान दोनों ही समान रूप से कबीर के अनुयायी थे। तीसरे महन्त कमाल के समय से कबीर की शिक्षाएँ हिन्दू सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित होने लगीं और अन्त मे एक प्रकार के वैष्णव सम्प्रदाय का रूप पा गयीं। मुसल्मानो की श्रद्धा हटते-हटते हट गई। कबीर-पन्थ में इस्लाम के अनेक गहन तत्व अब भी जाज्वल्य रूप में विद्यमान हैं, परन्तु अब मुसल्मान उधर आकर्षित नहीं होते। शायद इसलिए कि हिन्दुओं ने उन्हें स्वीकार कर लिया है। अपने रंग में रंग लिया है।

नवीन धर्म प्रवर्तक जब तब दबी हुई और प्रभावहीन-सी भाषा में इतना तो कह देते हैं कि वे कोई नया मत

चलाना नहीं चाहते। परन्तु दूसरों के महत्व को वे कभी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से उनका अपना महत्व घट जाता है। कबीर ने हिन्दू मुस्लिम सभी के सुधार का प्रयत्न, और सभी का समान रूप से खण्डन किया है। परन्तु आँख मूँद कर सभी बातो को बुरा नहीं बताया। हिन्दू और मुसलमान दोनो को लक्ष्य करके कहा है—

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिंदू अपनी करैं बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेश्या के पायन पर सोवैं यह देखो हिन्दुआई॥
मुसलमान के पीर औलिया मुरगी मुरगा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घर ही करैं सगाई॥

हिन्दुओं और मुसल्मानों का ढोंग और दम्भ उन्हें बहुत अखरता था। राम और रहीम का विवाद कबीर के कथनानुसार आत्मघात का उपक्रम है—

हिन्दू कहै मोहि राम प्यारा, तुरक कहैं रहमाना।
आपस में दुहि लरि लरि मुए, मरम न काहूँ जाना॥

वह हिन्दू मुसल्मानों की मूर्खता का मातम करते हैं—

हिन्दू कहत हैं राम हमारा, मुसलमान रहमाना।
आपस में दोऊ लड़त मरत हैं, दुविधा में लिपटाना॥
(, देखो जग बाऊराना।

हिन्दुओ के त्रिदेव के लिए कहा है—

ब्रह्मा, बिस्नु, महेसर कहिए, इन सिर लागी काई।
इनहि भरोसे मत होइ रहियो, इनहूँ मुक्ति न पाई॥

इस आत्म निर्भरता के उपदेश के पश्चात् आत्म-विश्वास को व्यक्त किया है—

सुर नर मुनि जन औलिया, यह सब उरली तीर।
अल्लाह राम की गम नहीं, तह घर किया कबीर॥

अर्थात् हिन्दुओ और मुसलमानो के सकुचित राम और रहीम से 'कबीर' श्रेष्ठ है। ऐसा सच्चा आत्मानुराग बहुत कम देखने को मिलता है। खतने के विषय मे लिखा—

सुनत कराये तुरक जो होना, औरत को का कहिये।
अरध शरीरी नारी बखाने, ताते हिन्दू रहिये॥

अर्थात् यदि खतना कराने से ही कोई मुसलमान बनता है तो फिर स्त्रियॉ मुसलमान कैसे हुई। अजान के विषय में लिखा—

ना जाने तेरा साहब कैसा ?
मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे,
क्या साहब तेरा बहरा है ?

पशु हिंसा से कबीर को अत्यन्त घृणा थी—

बकरी मुरगी किन फरमाया।
किस के हुकम तुम छुरी चलाया॥

दिन भर रोज़ा धरत हो, रात हनत हो गाय।
यह तो ख़ून वह बन्दगी, कैसे ख़ुशी ख़ुदाय॥

हिंसक के कर्म-फल का स्मरण करके कहा है—

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो बकरी को खात हैं, तिनको कौन हवाल॥

वे मद्य पान के भारी विरोधी थे—

अवगुन कहूँ शराब का, आपा अहमक होय।
मानुष से पशुआ करे, दाम गाँठ से देय॥

जातपात के विषय में कहा—

एक बूँद एकै मलमूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति ते सब उतपना, कौन ब्राह्मन कौन सूदा॥

आज के कबीर पन्थी विशेषकर महन्त और मठाधीश कबीर की शिक्षा से कितनी दूर चले गये? इसका अनुमान इन शब्दों से हो सकता—

भक्त विरक्त लोभ मन ठाना, सोना पहरि लजावे बाना॥
घोड़ी घोड़ा कीन्ह बटोरा, गाँव पाय जस चले करोरा॥

फिर कहा—

सिंहों के लहडे नहीं, हंसों की नहिं पाँति।
लालों की नहीं बोरियाँ, साधु न चलें जमाति॥
साधु भया तो क्या भया, माला पहरी चार।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी भँगार॥

फिर कहा—

आसन मारि डिम धरि बैठे मन में बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे तीरथ गरब भुलाना॥
माला पहिरे टोपी दीन्हें, छाप तिलक अनुमाना।
साखी सबदै गावत भूले, आतम खबर न जाना॥

सुधारक के कठोर कर्तव्य और उत्तरदायित्व के विषय में आत्मानुभूति को व्यक्त किया है—

साँच कहौं तो सब जग खीजे, झूठ कहा नहीं जाई।
कहैं कबीर सोई भयो दुखिया, जिन यह राह चलाई॥

पर स्त्री-गमन में दोष दरसाया है—

पर नारी पैनी छुरी, कोउ जिन लागों अंग।
रावण के दस सिर गये, पर नारी के संग॥

बुरों के प्रति भी भलाई करो—

जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोई तू फूल।
तो को फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल॥

किसी से अनुचित लाभ न उठना चाहिये।

कबिरा आप ठगाइए, और न ठगिए कोय।
आप ठगे सुख उपजै, और ठगे दुख होय॥

प्रभु का ऐश्वर्य हमारे पास अमानत रूप है—

मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागे है मोर॥

अस्थिर बुद्धि मनुष्य सफल नहीं होता—

चींटी चावल ले चली, बीच में मिल गई दार ।
कहे कबीर दोउ ना मिलैं, एक ले दूजी डार ॥

'अति' के विषय में कहा—

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप ।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप ॥

बुराई की उपेक्षा आगे चलकर बहुत दुःखदायी होती है—

केरा तबहि न चेतिया, जब आमो थी बेर ।
अब चेते क्या होत है, काँटन लीन्हा घेर ॥

सकट में घबराना न चाहिये—

देह धरे का दंड है, सब काहू को होय ।
ग्यानी भुगतै ज्ञान से, मूरख भुगतै रोय ॥

फिर कहा—

कबिरा मैं तो तब डरूं मय मुझ ही में होय ।
मीच बुढ़ापा आपदा, सब काहू में सोय ॥

पुनर्जन्म और कर्मफल के विषय मे कहा—

पूरब जन्म हम बाह्मन होते, ओछे करम तप हीना ।
रामदेव की सुरति बिसारी, पकरि जुलाहा कीना ॥

निम्न पद्य में भी पुनर्जन्म को स्वीकार किया है—

घट घट में रटना लागि रही, परघट हुआ अलेख जी ।
कहु चोर हुआ, कहु साह हुआ, कहु बाह्मन है कहुँ सेख जी ॥

घट-घट वासी अन्तर्यामी को लक्ष्य करके कहा—

प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहीं होय विदेस।
तन में, मन में, नेन में, उसको क्या सन्देश ॥

भक्ति निष्काम होनी चाहिये।

जब तक भक्ति सकाम है, तब लग निष्फल सेव।
कहे कबीर वह क्यों मिलें, निष्कामी निज देव ॥

प्रभु प्रेम से भरपूर व्यथित हृदय का वर्णन किया है—

कबीरा वैद बुलाइयाँ, पकरि के देखो बाँहि।
वैद न वेदन जानई, करक करेजे माँहि ॥

'कलेजे की करक' के स्मरण मात्र से ही व्यथा बढने लगती है।

फिर कहा है—

सुखिया सब ससार है, खावे और सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे ॥

यह जागना और रोना प्रेमियो और सुधारकों का कुल धर्म है। गीता में श्री कृष्ण ने कहा है—

या निशा सर्व भूतानां, तस्यां जाग्रति सयमी।
यस्या जाग्रन्ति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुने ॥

जो दूसरो के लिए रात है, सयमी उसे जाग-जागकर व्यतीत करते हैं। जिस समय लोग जागते हैं मुनि उसे रात समझते हैं।

प्रभु प्रेम की हाला का प्याला पीकर मतवाला होना

कबीर के लिए वाञ्छनीय है—

हरि रस पीया जानिये, कबहु न जाय खुमार।
मैं मन्ता घूमत रहै, नाहीं तन की सार॥

नानक ने भी कहा है—

गाजा भंग अफीम मद उतर जात प्रभात।
नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात॥

गुरु भक्ति के लिए कहा—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, किसके लागू पाय।
धन्य गुरु जी आपने, गोविन्द दिया बताय॥

कबीर ने गोविन्द को भी गुरु ही कहा है—

गुरु पारस गुरु परम हैं, चन्दन वास सुवास।
सत गुरु पारस जीव को, दीन्हा मुक्ति निवास॥

शिष्य के विषय में कहा—

सत गुरु बपुरा क्या करे, जो सिष में हो चूक।
शब्दबान बेधै नहीं, बास बजावे फूँक॥

फिर कहा—

गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है गढ़ गढ़ काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहर बाहर चोट॥

आत्म सन्तोष के विषय में कहा—

पहले यह मन काग था, करता जीवन घात।
अब तो मन हंसा भया, चुगि चुगि मोती खात॥

ईश्वर विश्वास के विषय में कहा—

साधू गाठ न बांधई, उदर समाता लेय।
आगे पीछे हरि खड़े, जब मॉंगे तब देय॥

यह सक्षेपत कबीर प्रतिपादित 'मानव-धर्म' का उल्लेख किया गया। कबीर सारत हिन्दू प्रतीत होता है। वह अद्वैत सिद्धान्त का अनुयायी था। सूफी मत का भी उस पर चोखा रग चढा था। कबीर के हठयोग और माया, जीव तथा मोक्ष आदि का वर्णन कठिन तथा अत्यन्त रहस्यपूर्ण होने के कारण यहॉं नहीं दिया गया।

रामानन्द स्वामी के बारह प्रमुख शिष्य माने जाते हैं। उनमें भी कबीर का स्थान ही सर्वश्रेष्ठ है। विद्या, बुद्धि और जप-तप मे कोई भी कबीर के समान नहीं। गुरु कबीर को बहुत मानते थे। अन्य उच्च जातीय शिष्य जुलाहे को विशेप कृपापात्र जान अन्दर-ही-अन्दर कबीर के प्रति डाह भी रखने लगे थे। पर जब कभी वे इसे जताना चाहते, कबीर की विद्या, बुद्धि और भजन-साधन के सामने पराभूत हो जाते।

कबीर की असाधारण बुद्धिमानी और धर्मबल देख गुरु रामानन्द को भी उसके प्रति श्रद्धा करनी ही पड़ती। वे कभी कभी कबीर की अन्य मतो के प्रति अगाध उदारता, नित्य नई सूझ और दुर्दमनीय सार्वभौमिकता देख-देख कर चिढ भी जाते थे। आध्यात्मिक तत्वों के सूक्ष्म विवेचन में भी गुरु शिष्य का वाग्युद्ध चलता ही रहता था।

धीरे धीरे दोनों मे अनबन होने की आशका होने लगी। तब कबीर ने रामानन्दी सम्प्रदाय का परित्याग करके नई मण्डली स्थापित की। वही आगे चलकर बहुत व्यापकरूप धारण करके कबीर-पन्थी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई। धर्म के सम्बन्ध मे सब हिन्दू मुसल्मानो को एक ही धरातल पर ले आना कबीर का मुख्य उद्देश्य था। इसी अभिप्राय से दोनो धर्मो में जो कुछ अवाञ्छनीय आडम्बर उसे दीखते उनका तीव्र विरोध करने में वह कभी न चूकता। कभी कभो तथा कथित पण्डितो और मुल्लाओं के अभिमान का उल्लेख करके वह उनकी हँसी भो उड़ाया करता था।

भारतवर्ष मे मब धर्मों का समन्वय और जाति पाँति तोड़ देने के लिए उचित रीति से प्रथम सर्व प्रथम कबीर ने ही किया है। वह जीव हिंसा को महापाप समझता था और मनुष्यमात्र मे बन्धुत्व का प्रतिपादक था।

गृहस्थ में रहते हुए जुलाहे का धन्धा करके कबीर अपना और अपने परिवार का भरण पोषण किया करता था। भक्ति-भाव का आवेग बढने पर कबीर को यह धन्धा सत्सग और आत्म विचार में बाधक प्रतीत होने लगा। अन्त में इसे छोड़ना ही पड़ा। कुछ प्रमुख शिष्यों को साथ लेकर वह देशाटन और धर्म प्रचार के निमित्त निकल पड़ा। जहाँ कहीं कोई अखाड़ा या धर्म मण्डली देखता वहाँ के महन्तो और प्रधानों से विचार विनियम करके यथा-

सम्भव स्वधर्म मे दीक्षित करता। विपक्षी पण्डितों और साधुओ को तर्क मे परास्त करता और मानव धर्म मे मिला लेता। वह मध्य भारत और दक्षिण के अधिकाश नगरो मे घूमा। इसी प्रसग मे कबीर का झूमी ग्रामवासी शेख 'तकी' से एक जोरदार शास्त्रार्थ भी हुआ था। कबीर जहाँ जाता, सब हिन्दू मुसल्मान मिलकर स्वागत और सेवा - सुश्रुसा करते तथा उपदेशामृत पान करके कृत्य कृत्य होते। सामान्य जनता तो उसके उपदेशो को बडी श्रद्धा भक्ति से श्रवण और ग्रहण करती थी। देश-भर में हजारों मनुष्यो ने उससे दीक्षा ली थी और शिष्यत्व स्वीकार किया था। कहा जाता है कि कटक, बम्बई, सयुक्त प्रान्त और बिहार प्रान्तो में उनके अनेक मठ स्थापित हो गये थे, उनमें से बारह मठ इस समय भी विद्यमान हैं, जिनमे काशी का कबीरचौरा प्रधान माना जाता है।

कबीर के चेलो की सख्या यो तो हजारों तक पहुँचती है, परन्तु कुछ प्रमुख शिष्य, जो उनके पन्थ के प्रसिद्ध प्रचारक और अनेक मठो के महन्त भी हुए हैं, प्राय सब के सब ससार त्यागी वैरागी थे। उनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

१ भागोदास—इन्होने कबीर-पन्थियो के प्रधान नीति ग्रन्थ बीजक का सकलन किया।

२ ब्रह्मगोपाल—यह सुग्र निशान नामक ग्रथ के

सकलन कर्ता हैं।

३ धर्मदास—यह पहिले रामानन्द के शिष्य थे, पीछे कबीर पन्थी हो गये।

४ चूड़ामणिदास—यह धर्मदास के पुत्र थे। इनके वंशवाले जबलपुर मठ के महन्त हैं। इन लोगो ने गृहस्थी नहीं छोड़ी अत: ये वंशगुरु कहलाते हैं।

५. कमाल—यह कबीर के पुत्र और बम्बई मठ के महन्त थे।

६ जगजीवनदास—अयोध्यावाले।

७ साहबदास—कटकवाले।

८ नित्यानन्ददास और

९ कामानन्द—ये दाक्षणात्यों में प्रतिष्ठित हुए थे। सभी शिष्य कबीर के धर्म सूत्रों का अभ्यास करके लोगो में उनका प्रचार करते थे।

जिस समय रेल, डाक, तार, समाचार पत्र और प्रेस आदि की आधुनिक सुविधाएँ सर्वथा अप्राप्त थीं, कबीर-पन्थ का द्वारिका से जगन्नाथपुरी और बिहार से बम्बई तक चारो खूँट में, अल्पकाल में ही व्यापक प्रचार एक चमत्कार के समान है। कबीर ने देशाटन और धर्म प्रचार करते हुए अपने आन्दोलन को चिरस्थाई और अधिका-धिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए जिन मठों की स्थापना की थी उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) काशी का चौरा (२) जगन्नाथपुरी (३) द्वारिका (४) धनावती (५) जबलपुर (६) बम्बई (७) बड़ोदा (८) मगहर जिला जौनपुर इनके अतिरिक्त दो मठ दक्षिण मे और भी थे।

कबीर-पन्थियो के लगभग सभी ग्रन्थ कबीर-रचित हैं। ये हिन्दी के दोहे-चौपाई आदि छन्दो में लिखे गये हैं। कबीर के प्रधान ग्रन्थ का नाम बीजक है। इसमे कबीर-पन्थ के नियम-आदि विस्तार से लिखे हैं, इसमे छोटे छोटे छ सौ चौअन अध्याय हैं। कहा जाता है कि सम्पूर्ण बीजक अभी तक छपा नहीं है। हस्त लिखित ही मिलता है। यह दुर्भेद और रहस्यमय ग्रन्थ है।

दूसरा ग्रन्थ सुख निदान है। यह स्पष्ट और सुबोध भाषा मे है।

'रामानन्द की गोष्ठी' और 'गोरखनाथ की गोष्ठी' दो तर्क ग्रन्थ भी कबीर ने लिखे थे। इनमें स्वामी रामानन्द और गोरखनाथ के मतो का खण्डन पाया जाता है ये दोनों ही कबीर के प्रतिद्वन्दी थे। स्वामी रामानन्द तो जैसा कि पूर्व लिख आये हैं, कबीर के गुरु भी थे, परन्तु जब कबीर ने पृथक् मण्डली की स्थापना की तो कबीर को अपना प्रतिद्वन्दी समझने लग गये थे। गोरखनाथ उस समय के प्रमुख शैव मत प्रचारक थे। अपने शिष्यों में वे शिव के अवतार प्रसिद्ध हैं। कबीर के जीवन में ही इन

दोनो का स्वर्गवास हो गया था।

कबीर के पश्चात् नानक, जगजीवन, दादू आदि अनेक मानव धर्म प्रचारक सन्तों ने भी कबीर की शिक्षा का आधार लेकर ही हिन्दुओं और मुसलमानो मे एक ही मानव धर्म प्रचार का प्रशसनीय प्रयत्न किया था। अधर्म विषय में सहन शीलता और मनुष्य जाति मे भ्रातृ-भाव का प्रसार कबीर प्रचारित धर्मोपदेश की आधार-शिला के समान हैं। उनका उपदेश था—

सब से हिलये, सब से मिलिये, सब के लीजे नाँव।
हाँजी हाँजी करते रहिये, बैठे अपने ठाँव॥

कबीर की साखियाँ बड़ी मधुर नीति तथा उच्च भावो से भरी हुई हैं। आज तक लगभग ऐसी पाँच सहस्र साखियो का पता लग चुका है। कुछ महत्वपूर्ण साखियों का उल्लेख आगे किया जाता है—

नव द्वारे का पींजरा, तामें पछी पौन।
रहने का आश्चर्य है, गये अचम्भा कौन॥१॥
दु ख में सिमरन सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सिमरन करे, दु ख काहे को होय॥२॥
सेवा को दोनों भले, एक सन्त एक राम।
राम जो दाता मुक्ति के, सन्त जपावें नाम॥३॥
जा कारण जग ढूँढया, सो तो हृदय माँह।
परदा दिया भ्रम का, तांसे सूझे नाँह॥४॥

हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध।
हद बेहद दोनों तजे, ताको मता अगाध ॥२७॥
ग्रन्थ पन्थ सब जगत के, बात बतावें तीन।
राम हृदय, मन में दया, और तन सेवा में लीन ॥२८॥
प्रेम प्याला जो पिये, सीस दक्षिणा दे।
लोभी सीस न दे सके, नाम प्रेम का ले ॥२६॥
ज्यों तिल माँही तेल है, ज्यों चकमक में आग।
तेरा मालिक तुझ में बसे, जाग सके तो जाग ॥३०॥
दिल का महरम ना मिला, जो मिला सो गर्जी।
कहे कबीर आसमान फटा, क्योंकर सींवे दर्जी ॥३१॥
फूटी आँख विवेक की, लखे न सन्त असन्त।
जा के सग दस बीस हैं, ता का नाम महन्त ॥३२॥

भारत के विभिन्न प्रान्तो मे कबीर पन्थी ८६ लाख की सँख्या में पाये जाते हैं। कबीर प्रदत्त प्रकाश के प्रकाश मे विभिन्न सम्प्रदायों ने भी अपने-अपने मन्तव्यो को सँवारा, सजाया और सु-निश्चित किया है। कबीर और कबीर का 'मानव धर्म' हिन्दू-मुस्लिम, सिख, ईसाई, गोरे-काले, अमीर, गरीब, शिक्षित, अशिक्षित, विद्वान्, मूर्ख सब के लिए है। सुबोध भी और हितकर भी।

*

नानक

सिख सम्प्रदाय के प्रचारक श्री गुरु नानकदेवजी विशुद्ध 'मानव धर्म' के प्रचारक और उच्चकोटि के भगवद् भक्त महापुरुष थे। साम्प्रदायिक हठ या दुराग्रह का लवलेश भी उनमें नहीं था। सिख पन्थ के रूप में उन्होंने कोई नूतन पन्थ प्रचारित नहीं किया था, उनके आन्दोलन को यदि किसी नाम से पुकारा जा सके तो वह नाम केवल 'मानव-धर्म' ही होना सम्भव है। उनके 'शिष्य' रूढी के रूप में सिख कहलाने लगे थे। 'पन्थ' तो उन कतिपय दुर्घटनाओं का परिणाम है, जो कि मुख्यतया श्री गुरु अर्जुनदेवजी महाराज के समय में घटित होनी आरम्भ हुई थीं और दशम गुरु श्री गोविन्दसिंहजी के समय तक और उसके पश्चात् भी घटित होती रहीं।

सिखों के विश्वासानुसार दसों गुरु अर्थात् (१)

गुरु नानकदेवजी (२) श्री गुरु अगददेवजी (३) श्री गुरु अमरदासजी (४) श्री गुरु रामदासजी (५) श्री गुरु अर्जुनदेवजी (६) श्री गुरु हरगोविन्दजी (७) श्री गुरु हररायजी (८) श्री गुरु हरकिशनजी (६) श्री गुरु तेगबहादुरजी और (१०) श्री गुरु गोविन्दसिंहजी मे एक ही आत्मा विराजमान थी, एव सबने मिलकर एक ही ज्योति का प्रकाश तथा एक ही लक्ष्य की पूर्ति के लिये कार्य किया है और वह लक्ष्य था—'मानव धर्म' प्रचार, अर्थात् मानवता की सुरक्षा का आयोजन और मानवोचित तथा व्यवहारिक मध्यम मार्ग की ओर ससार को अग्रसर होने की प्रेरणा।

गुरु नानकदेवजी के जीवन और शिक्षा में वेदान्त का गहरा रग पाया जाता है, जो कि उनके समय के सन्तो की एक विशेषता है। उन्होने जिस जीवन धारा को प्रवाहित किया था, व्यवहारत. वह हिन्दू धर्म ही है। क्या स्वय गुरुजी भी उसे हिन्दू-धर्म ही कहते थे? इसका उत्तर देना मेरे लिये कठिन है। यही प्रश्न मक्के में मौलवियों ने गुरु जी के सामने उपस्थित किया था और उन्होंने अपने सूफियाना रग मे ही इसका उत्तर दिया था कि—

हिन्दू कहूँ तो मारिये, मुसलमान भी नां।
पच तत्व का पूतला, नानक मेरा ना॥

गुरुजी ने किसी भय-वश ऐसा उत्तर दिया होगा, ऐसा विचार भी पापमूलक ही होगा। उन्होंने वास्तविक हिन्दू धर्म'

को समझा था। वास्तविक हिन्दू-धर्म 'मानव धर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रचलित हिन्दू धर्म तो थोड़ी-सी रूढ़ियों, परम्पराओं और अन्धविश्वासों का क्रमहीन समुदाय है, जो कि विशुद्ध हिन्दू धर्म को अपनी आड़ में छिपाये बैठा है। गुरुजी ढोंग और पाखंड का परदा फाड़कर विशुद्ध हिन्दुत्व का प्रकाश करना चाहते थे। वे महापुरुषों के नाम पर नये नये सम्प्रदाय बनाना एक बहुत बड़ी ट्रेजडी मानते थे। भगवान कृष्ण से बड़ा क्रान्तिकारी कोई इस संसार में नहीं हुआ। वे इस दशा में सतर्क रहे और उनके नाम पर कोई नया सम्प्रदाय नहीं बना। यह विशेष लक्ष्य करने की बात है।

गुरुजी ने मनुष्य की वास्तविक उदारता को उकसाकर मानव जाति को एकता का सन्देश दिया था। हिन्दू मुसलमान उनकी दृष्टि में समान थे। मरदाना एक मुसलमान था, जो कि उनका प्यारा साथी और अनुचर था तथा प्रायः आजीवन सर्वत्र उनके साथ ही रहा। आज हम लोगों को आपस में विष फैलाते और बटवारे की बातें करते देखते हैं, परन्तु गुरु नानकदेवजी की शिक्षा के यह सब विरुद्ध है। विष के व्यापारियों से हमें सदा सतर्क रहना चाहिये।

गुरु नानकदेवजी का जन्म पंजाब प्रदेशान्तर्गत जिला लाहौर के तलवंडी नामक ग्राम में एक सम्भ्रान्त खत्री परिवार में सं[illegible] में हुआ था। उनके पिता

नाम कालू और माता का नाम त्रिपता था। कालूजी विशेष धनी न होने पर भी प्रान्त में विशेष माननीय तथा प्रतिष्ठित सज्जन समझे जाते थे और ग्राम के पटवारी थे। नानकजी की एक बहिन भी थी, नानकी। नानकी का विवाह सुलतानपुर (जिला जालन्धर) निवासी जयरामजी से हुआ था, यह एक सामान्य कृषक थे।

श्री नानकदेवजी की शिक्षा दीक्षा का कोई सविवरण वृतान्त उपलब्ध नहीं होता। इतना ही पता चलता है कि वे बाल्यकाल से ही अत्यन्त बुद्धिमान और प्रतिभा सम्पन्न थे, छोटी अवस्था में ही उन्होंने थोडी फारसी भाषा और सामान्य हिसाब किताब का बोध प्राप्त कर लिया था। जन्मसाखी में लिखा है कि उन्होंने क्रमश गोपाल पाधे, (उपाध्याय) बैजनाथ पण्डित और कुतबुद्दीन मुल्ला से शिक्षा प्राप्त की थी। आरम्भिक अवस्था मे ही उन्हें सासारिक कार्यों से विरक्ति सी हो गई थी। एक दिन ग्राम के बाहिर पशु चराने गये और बाह्य ज्ञान शून्य होकर गहरे प्रभु भजन में लीन हो गये। इसी बीच मे पशु पास के खेत का सारा अन्न खा गये और खेतवाले का नानक के पिताजी से बड़ा भारी झगड़ा हुआ।

जब नानकजी यौवन प्राप्त कर खाने कमाने योग्य हुए तो एक दिन पिता ने व्यापार के अभिप्राय से ४०) रुपये की पूँजी देकर बालाराम नामक एक विश्वस्त, जाट

के साथ परदेश भेज दिया। जब चूड़काने के निकट एक जंगल में से होकर जा रहे थे तो मार्ग में कुछ साधु मिले, वार्तालाप होने पर ज्ञात हुआ कि साधु तीन दिन से भूखे हैं। इस पर गुरुजी ने बाले से पूछा—'पिता ने सच्चा सौदा करने के लिये ये रुपये दिये हैं सो इन साधुओं को दे देने चाहिएँ। इससे बढ़कर सच्चा सौदा और क्या हो सकता है?' बाले ने पिता के कुपित होने का भय बताया तो बोले—'उन्होंने आप ही तो सच्चा सौदा करने को कहा है। सांसारिक पदार्थों के खरीदने, बेचने और रक्षा करने में तो बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है और हानि भी सम्भव है। इस सौदे में तो लाभ ही लाभ है।' यह कहकर रुपये साधुओं की भेंट कर दिये। साधुओं के महन्त ने कहा—'ये ठीकरियाँ हमें नहीं चाहियें, यदि श्रद्धा है तो कुछ खाने को ला दो।'

गुरुजी गये और पास के ग्राम से सब रुपयों का आटा दाल-आदि ले आये। 'सच्चा सौदा' तो हो गया अब और कहीं जाने की आवश्यकता न रही थी, घर लौट गये। पिता के सम्मुख जाने में भय प्रतीत होने लगा। बाला तो अपने घर चला गया और गुरुजी एक वृक्ष पर चढ़कर छिप गये। पता लगने पर पिताजी वहीं पहुँचे, पूछा 'रुपये कहाँ गये' बोले—'मैंने आपके आदेशानुसार सच्चा सौदा किया है जिसमें लाभ ही लाभ है और सदा होता

रहेगा।' पिता को आवेश आ गया। वह मारने-पीटने लगे, इस पर बुलारराय एक सज्जन ने बीच-बचाव कराया और अपने पास से रुपये, देकर कालूरायजी को शान्त कर दिया।

पिता ने गुरुजी के बढते हुए धर्म भाव और प्रभु-प्रेम की मस्ती को पागलपन समझकर हकीम बुलाया। गुरुजी ने हकीम से पूछा, 'तुम कौन हो और क्यो आये हो ?''

'मैं हकीम हूँ, तुम्हारा इलाज करने आया हूँ।'

'क्या मैं बीमार हूँ ?'

'तुम्हारे पिताजी कहते हैं, तुम्हें पागलपन हो गया है।'

हकीमजी ! मैं पागल नहीं, प्रभु-प्रेम का दीवाना हूँ। मेरे रोग का इलाज तुम न कर सकोगे।'

हकीमजी ने कालूजी को समझा बुझाकर कहा, 'इसके लिए तो आध्यात्मिक हकीम तलाश करो।'

गुरुजी मादक द्रव्य सेवन के घोर विरोधी थे। प्रभु-भक्ति का प्रतिपादन करते हुए वे प्राय कहा करते थे—

गाँजा भग अफीम मद, उतर जात प्रभात।
नाम खुमारी नानका, चढ़ी रहे दिन रात॥

एक दिन गुरुजी जगल मे से होकर जा रहे थे कि एक साधु मिला और बोला—'कुछ निरकार के नाम पर दो' गुरुजी के पास एक सोने की अगूठी और एक पीतल का लोटा था, दोनों साधुजी के हवाले कर दिये। जब

'आप चिन्ता न करें, हिसाब ठीक है जब चाहें मोदीखाने की पड़ताल करा लें।'

जयराम के कहने से नवाब ने पडताल कराई तो गुरु जी के १३५) रुपये नवाब की ओर निकले। पड़ताल के पश्चात् गुरुजी ने नौकरी छोड़नी चाही परन्तु जयराम के बहुत अनुरोध करने पर फिर कुछ दिन काम करते रहे।

कोई साधु फकीर गुरुजी के द्वार से खाली हाथ न जाता था। इस पर भी मोदीखाने का भण्डार भरपूर ही रहता था। वैरियो ने नवाब के कान भरे। पुन पड़ताल हुई तो गुरुजी के तीन सौ रुपये नवाब की ओर निकले।

जब गुरुजी १६ वर्ष के हुए तो उनका विवाह जिला गुरुदासपुर के पक्खोकी ग्रामवासी मूलाराम पटवारी की कन्या सुलखना से हुआ। चौना वश मे जन्म होने के कारण उसे चौन्नी भी कहते थे। विवाह के पश्चात भी गुरु जी सुल्तानपुर मे नानकी के पास ही रहने लगे। घर में जिस वस्तु की आवश्यकता होती वह गुरुजी ला देते, परन्तु गृहस्थी के धन्धो में उनकी रुचि बहुत ही कम थी। अधिकाश समय ज्ञान ध्यान करते ही व्यतीत होता था।

समय पाकर गुरुजी के श्रीचन्द और लक्ष्मीदास नाम के दो पुत्र हुए। आगे चलकर इन दोनो ने उदासी सम्प्रदाय की स्थापना की और बहुत ख्याति पाई। पञ्जाब मे अब भी उनके बहुत से अखाड़े और मठ पाये जाते हैं।

श्रीचन्द और लक्ष्मीदास के जन्म के कुछ समय पश्चात नानक जी का मन गृहस्थी से सर्वथा विचलित होने लगा। ईश्वर भजन और सन्तो के संग के सिवा अब उन्हें कुछ न भाता था।

एक बार गुरुजी नहर पर नहाने गये। कपड़े उतार कर जल की ओर बढ़े ही थे कि भक्ति की तरङ्ग उठी और वे न जाने कहाँ जाकर ध्यान मग्न हो गये। तीन दिन हो गये न घर पहुँचे न मोदीखाने। तलाश होने लगी, कपड़े नदी किनारे पड़े मिले। लोगों को विश्वास हो गया कि डूब गये। तीसरे दिन गुरुजी घर पहुँचे और उसी दिन साधु वेश धारण कर लिया। और लोगों को मोदीखाना लूट लेने का आदेश दिया। मोदीखाना लुटने लगा। गुरु जी एक समीपवर्ती कपर स्थान में जाकर तपस्या करने लगे। नवाब को मोदीखाना लुटने का समाचार मिला तो उसने आकर लोगों को रोका। गुरुजी को हिसाब किताब की जाँच पड़ताल के लिए बुलाया। पहिले तो वे न गये फिर जयराम जी के बहुत अनुरोध करने पर चले गये। हिसाब की जाँच हुई तो गुरुजी के नवाब की ओर सात सौ साठ रुपये निकले। नवाब ने रुपया देना चाहा, परन्तु उन्होंने स्वयं न लेकर गरीबों में बँटवा दिया।

उनके ससुर मूलाराम जी साधु होने का समाचार पाकर आये और गुरुजी को साधु वेश में देखकर बहुत

दु:खी हुए। उन्होंने बहुत समझाया बुझाया, परन्तु गुरुजी तो सूरदास के काले कम्बल के समान थे। उन पर दूसरा रङ्ग चढना सम्भव ही न था।

एक बार नवाब ने सिपाही भेजकर गुरुजी को बुलाया पर वे न गये। नवाब ने आदेश दिया 'पकड़कर ले आओ' इस पर वे चले तो गये परन्तु उन्होने नवाब को सलाम न किया। नवाब इससे बहुत तलमलाया और क्रुद्ध होकर कहने लगा तुम मेरे बुलाने से क्यो न आये ? गुरुजी ने निडरतापूर्वक कहा—'जब मैं आपका नौकर था आपके पास आता था। आपकी आज्ञाओं का पालन भी करता था अब मैंने आपकी नौकरी छोड़ दी और निरकार की नौकरी कर ली है। ध्यान में लीन रहता हूँ। पल भर भी अवकाश नहीं।

नवाब ने कहा—

'यदि तुम्हें ईश्वर से प्यार है तो मेरे साथ मस्जिद में चलकर नमाज पढो आज जुमे का दिन है।' गुरुजी नवाब के साथ हो लिये। 'नानकजी मुसल्मान होने चले हैं, लोगों को इस समाचार से बड़ा खेद हुआ।

नमाज शुरू हुई। नवाब और काजी न सिजदा किया। गुरुजी चुप खडे रहे। नमाज से निपट कर नवाब ने पूछा—

[illegible] नमाज [illegible] सिजदा क्यों न किया ?'

अब [illegible]

[illegible] साथ पढता आप तो कन्धार

में घोड़े खरीद रहे थे और काजी जी सोच रहे थे कि गाय का बछड़ा खुला छोड़ आया हूँ। कहीं घूमता-फिरता गढ़े में न गिर पड़े।'

यह सुनकर नवाब और काजी दोनो लज्जित हो गये। जब कालूरामजी को महाराज के साधु होने का समाचार मिला तो उन्होंने अपना नौकर मर्दाना ठीक ठीक समाचार लाने के लिये भेजा। मर्दाना आया और कबर स्थान में गुरुजी से मिला गुरुजी ने कहा—'मं तो तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था। मेरे साथ यात्रा को चलो।

'किधर जाने का विचार है ?'

'जिधर ईश्वर ले चले।

'मैं तो आपके विषय मे ठीक-ठीक समाचार लेने आया हूँ। उधर आपके माता पिता मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। परन्तु अब में आपका साथ छोडना नहीं चाहता।'

'यात्रा के कष्ट सह सको तो चलो मेरी साथ, नहीं तो भागो अपने घर।'

मुझे यात्रा के कष्ट स्वीकार हैं। उस दिन से मरते दम तक मर्दाना गुरुजी के साथ ही रहा।

गुरुजी का आदेश पाकर मर्दाना एक सुरीली सितार खरीद लाया और प्रभु प्रीत के गीत गा गाकर गुरुजी को सुनाने लगा। एक दिन मर्दाना गाना सुना रहा था कि गुरुजी पर भारी मस्ती छा गई वे तीन दिन तक बेन

बैठे रहे। इधर भूखे मर्दाने के पेट मे चूहे कूद रहे थे। तीसरे दिन मर्दाने ने कहा—'आपको तो खाने-पीने की कोई चिन्ता नहीं, पर मैं भूखा प्यासा न रह सकूँगा। मैं जाता हूँ। नानकी जी को मर्दाने के कष्ट और जाने का पता लगा तो उसने मर्दाने के भोजन का प्रबन्ध अपने घर कर दिया और मर्दाना पूर्ववत गुरुजी की सेवा करता रहा।

धीरे धीरे गुरुजी की कीर्ति बहुत फैल गई। झुण्ड-के-झुण्ड लोग दर्शनार्थ आने लगे। गुरुजी लोगों का यथोचित सत्कार करते और सबको एक ईश्वर की भक्ति और विश्व प्रेम, वैर त्याग सरल, जीवन और उच्च विचार की शिक्षा देते।

लोगो का जमघट इतना रहने लगा कि उन्हें प्रभु भक्ति के लिए थोड़ा समय मिलना भी कठिन हो गया। तब उन्होंने यात्रा की ठानी कई स्थानो पर होते हुए एमनाबाद पहुँचे और लालू नामक एक श्रद्धालु तरखान के पास ठहरे। धनी लोग उन्हें भोजन का आमन्त्रण देते परन्तु वे स्वीकार न करते थे। जो कुछ रूखी, मिस्सी, लालू दे देता बड़े प्रेम से खाते।

इन्हीं दिनो वहाँ के प्रसिद्ध रईस मलिक भागू के पुत्र का विवाह था। उसने गुरुजी को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। गुरुजी न गये। उसने क्रुद्ध होकर नौकरो को आदेश दिया, पकड़ कर ले आओ।

अब तो महाराज को आना पड़ा, पहुँचे। मलिक ने आवेश में कहा—'आपने मेरे आमन्त्रण को अस्वीकार क्यों किया ? बड़े शर्म की बात है तुम खत्री होकर शूद्र के हाथ का खाना खाते हो और भले लोगों का अपमान करते हो।'

गुरुजी बोले—'अब तो आपके पास आ ही गया हूँ—जो कुछ तैयार हो मँगा लो। उधर लालू को इशारा कर दिया कि घर में जो कुछ भोजन तैयार हो तुरन्त लाओ। भागू ने हलवा पूरी मँगाया। लालू बाजरे की आधी रोटी ले आया। गुरुजी ने दायें हाथ में बाजरे की रोटी और बायें में हलवा पूरी लेकर दबाया। रोटी में से दूध और हलवा पूरी में से रक्त की धार बहने लगी। गुरुजी बोले—

'धर्म की कमाई की सूखी रोटी से भी आत्मिक शक्ति उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे माता के दूध से बालक का बल बढ़ता है। अन्याय तथा रिश्वत की कमाई खाना मनुष्यों का लहू चूसना है।'

भागू लज्जित तो बहुत हुआ, पर उसके मन में मैल बना ही रहा।

एमनाबाद के अफगान हाकिम का पुत्र बीमार था। भागू ने हाकिम से कहा, 'किसी सन्त से इलाज कराओ ठीक हो जायेगा।' हाकिम ने कहा, 'सन्त मिलेगा कहाँ ?'

भागू के कहने से निश्चय हुआ कि इलाके के सब साधु-सन्त पकड़ लिये जाएँ। शायद उनमें कोई ––

निकल आये। साधुओं की गिरफ्तारियाँ होने लगीं। गुरुजी भी पकड़े गये। लालू गुरुजी से मिलने आया और दु:खी होकर रोने लगा। गुरुजी ने उसे सान्त्वना देकर कहा—'अपने घर की रोटी का एक टुकड़ा हाकिम के बीमार बेटे को खिला दो और उसे मेरे पास ले आओ।'

लड़का रोटी खाते ही स्वस्थ होकर उठ बैठा और दौड़ा दौड़ा आकर गुरुजी के चरणों में गिर पड़ा। भागू और भी लज्जित हुआ और आकर गुरुजी से क्षमा माँगने लगा।

एक बार मर्दाने ने तलवंडी जाने की इच्छा की। गुरुजी ने शीघ्र लौटने का वचन लेकर अनुमति दे दी। जब मर्दाना तलवण्डी गया तो कालूरायजी उस पर बहुत क्रुद्ध हुए कि मैंने तो समाचार लाने भेजा था और तू भी वहीं रम गया। लौटती बार कालूरायजी ने भाई बालाराम जी को भी मर्दाने के साथ कर दिया कि जैसे बने, समझा-बुझाकर नानक को तलवण्डी ले आएँ। बुलार राय ने भी सन्देश भेजा कि 'बूढ़ा हो गया हूँ, दर्शनों की इच्छा है।' मर्दाना और बाला ने एमनाबाद पहुँचकर पिता और बुलार राय के सन्देश दिये। गुरुजी तलवण्डी की ओर चल पड़े और पहुँचकर ग्राम के बाहर एक कुएँ पर ठहरे।

उनके आने का समचार पाकर माता-पिता, सम्बन्धी और नगरवासी उनके पास आये। सभी नानक

वेश में देखकर विलाप करने लगे, नानक को समझाया बुझाया। परन्तु यह सब व्यर्थ था।

राय बुलार बहुत बूढा होगया था। गुरुजी स्वय उसके घर गये। दोनो बड़े प्रेम से मिले। बलार राय ने कहा—'मैं आपको कुछ जमीन देना चाहता हूँ, उसकी आय से सार्वजनिक लगर जारी कर दें और फकीराना वेश छोड़कर अब यहाँ ही रहें।' गुरुजी ने इसे स्वीकार न किया।

गुरुजी का आदेश पाकर बलार राय ने ग्राम में एक बड़ा तालाब बनवा दिया, जो कि इस समय तक विद्यमान है और नानकसर कहलाता है।

एक बार गुरुजी तलबा (जिला मुलतान) पहुँचे, वहाँ शेख सज्जन नामक एक ठग रहता था। उसने हिन्दुओं के लिये एक धर्मशाला और मुसलमानो के लिये एक मस्जिद बनवा रखी थी। जो कोई यात्री आता, सज्जन उसको आदरपूर्वक ठहराता और रात को उसे जान से मारकर उसका माल मता हड़प कर जाता, लाश आदि कुए में फेंक आता। सज्जन गुरुजी से बहुत प्रेम से मिला। जब रात हुई तो गुरुजी ने मर्दाने को सितार बजाने का आदेश दिया। स्वय शब्द गाने लगे और सज्जन का सारा कच्चा चिट्ठा गाकर कह सुनाया।

सज्जन के नेत्र खुल गये, वह चरणों में गिरकर ए

माँगने लगा। गुरुजी ने उपदेश दिया 'जितना माल तुमने ठगी से जमा किया है, दान कर दो और भविष्य में नेक कमाई पर निर्वाह करो।'

सज्जन ने गुरु आदेश का पालन किया।

गुरुजी एक ग्राम मे गये लोगो ने बहुत कष्ट दिया और अपमान किया, चलते समय गुरुजी ने ग्राम को बसने का आशीर्वाद दिया। फिर एक दूसरे ग्राम में गये, वहाँ लोगो ने श्रद्धा भक्ति से सेवा की और बहुत आदर किया। चलते समय गुरुजी ने ग्राम के उजाडने के लिये ईश्वर से प्रार्थना की। मर्दाना और बाला भी साथ थे, उन्होने इसका कारण पूछा, तो बोले—'बुरे गाँव का बसना और भले गाँव का उजडना ही ठीक है। बुरा ग्राम उजडेगा तो बुरे लोग अन्यत्र जाकर बुराई फैलाएंगे और जब भला गाँव उजडेगा, तो भले अन्यत्र जाकर भलाई फैलाएँगे।

लाहौर के इलाके में एक करोड़ीमल नाम का थानेदार था। पहिले तो वह गुरुजी का बडा द्वेषी था और उन्हें कष्ट देने के उपाय करता रहता था। फिर गुरुजी की सज्जनता से प्रभावित होकर भक्त बन गया और गुरुजी से प्रार्थना करने लगा कि मैं आपके लिए एक धर्मशाला बनवाना चाहता हूँ और जितनी भूमि कहें आपके नाम कर दूँ, आप यहाँ मेरे पास ही निवास करें।

गुरुजी ने उसकी बात मानली। थोडे दिन

धर्मशाला बन गई। करोड़ीमल ने धर्मशाला के समीप ही अपने लिये एक मामूली-सा कच्चा घर भी बनवाया था। गुरुजी ने अपने माता पिता और पुत्र वहीं मँगवा लिये और सब वहीं रहने लगे।

फिर तो गुरुजी के बहुत से भक्त और सम्बन्धी भी वहाँ आकर बस गये। थोड़े दिनों मे ही एक बड़ी बस्ती बस गई। गुरुजी ने उसका नाम कर्तार पुर रखा।

एक बार गुरुजी हरद्वार में गंगा किनारे घूम रहे थे। उन्होंने देखा लोग हाथो में भर-भरकर ऊपर को जल उछाल रहे हैं। उन्होंने हैरान होकर पास वालों से पूछा—'ये क्या कर रहे हैं ?'

उन्होने कहा—'सूरज को जल दे रहे हैं। गुरुजी कपड़े उतार कर जल मे आ खड़े हुए और पश्चिम दिशा मे जल उछालने लगे। लोगों ने कहा—'क्या कर रहे हो ?' बोले—'कर्तारपुर में अपने खेतो को पानी दे रहा हूँ, वे वर्षा के अभाव मे सूखे जा रहे हैं।' वे बोले—'कर्तारपुर तो सैकड़ो मील दूर है वहाँ जल कैसे पहुँच सकता है ?' गुरुजी ने कहा—'फिर सूरज तो करोड़ों मील दूर है यहाँ जल कैसे पहुँच सकता है ?' इस पर सब लज्जित हो गये।

जब कर्तारपुर में रहते हुए एक वर्ष बीत गया तो वे विदेश यात्रा को चले। देश में इससे पूर्व कई बार वे तीर्थ-यात्रायें और प्रचार यात्रायें कर चुके थे। दो वर्ष तक लङ्का

भी रह आये थे। बिलोचिस्तान होते हुए हाजियो के वेश में मक्का पहुँचे। भाई बाला और भाई मर्दाना भी साथ थे। रात का समय था पढ़कर सो गये। दैवयोग से गुरु जी के पाँव काबे के मन्दिर की ओर हो गये। जब सवेरे मुसल्मानों ने उन्हें काबे की ओर पाँव किये पडे देखा तो कहा—'तू कैसा बे अदब है ? खुदा की घर की तरफ पाँव करके सो रहा है।'

गुरुजी ने शान्ति और सरलता से कहा—'अच्छा, तो बताओ खुदा का घर किधर नहीं है ? मैं उधर ही पाँव कर लूँगा। बात काजी तक पहुँची। उसने आकर पूछा—'तू हिन्दू है या मुसल्मान ?'

इस अवसर पर गुरुजी ने उत्तर दिया—

हिन्दू कहूँ तो मारिये, मुसल्मान भी ना।
पचतत्व का पूतला, नानक मेरा ना॥

काजी को विश्वास हो गया कि यह कोई साईं का स्नेही है।

मक्के से गुरुजी मदीना गये। वहाँ से बुगदाद चले गये। बुगदाद का बादशाह क़ारूँ बहुत कजूस और अन्यायी था। वह येन केन प्रकारेण प्रजा-पीडन से धनोपार्जन किया करता था। एक दिन वह गुरुजी के पास आया देखा गुरुजी ककर गिन रहे हैं। पूछने लगा—'आप क्या कर रहे हैं ?'

'कंकर गिन रहा हूँ ।'

'आखिर यह किस लिये ?'

'इसी लिये कि जब संसार से जाने लगूँ तो इन्हें साथ लेता जाऊँ ताकि जब अगले जहान में आप अपनी बेशुमार दौलत के साथ पहुँचे, तो खाली हाथ देखकर मेरी हँसी न उड़ावें ।'

क़ारूँ ने कहा—'मैं आपका मतलब समझ गया । दौलत कोई साथ नहीं ले जा सकता । पर, मेरा दिल काबू में नहीं है ।'

अन्त में गुरुजी के उपदेश से प्रभावित होकर कारूँ ने अपना धन गरीबों को बाँट दिया । जब गुरुजी बुगदाद से चलने लगे तो बादशाह ने एक सुन्दर चोला जिस पर क़ुरान की आयतें लिखी हुई थीं, गुरुजी को भेंट किया । यह चोला अब भी डेरा बाबा नानक के गुरुद्वारे में सुरक्षित रखा है और 'चोला साहब' के नाम से प्रसिद्ध है ।

वहाँ से गुरुजी तातार होते हुए ख्वारज़म पहुँचे । यहाँ ही थोड़े दिन बिमार रह कर भाई मर्दाने का स्वर्गवास हो गया । वहाँ से गुरुजी काबुल कन्धार होते हुए वापिस भारत आए और एमनाबाद में रहने लगे ।

इन्हीं दिनों विजय का डंका बजाते हुए बाबर ने भारत में प्रवेश किया । एमनाबाद के अफगान हाकिम को

किया। नगर को लूटा लोगों को बन्दी बनाया और बड़ा उत्पात किया। बन्दियों में गुरुजी और भाई बालाजी भी थे।

जब बाबर को गुरुजी की प्रभु भक्ति का पता चला तो उसने गुरुजी का बहुत सन्मान किया। और खुश होकर उन्हे शराब का एक प्याला भेंठ किया। परन्तु गुरजी ने उसे स्वीकार न किया। कहा " मैंने वह नशा पिया है जो चढ कर कभी उतरता ही नहीं। " मुझे शराब की आवश्कता नही है गुरजी और बालाजी सन्मान सहित मुक्त और विदा हुए।

कर्तारपुर पहुच कर गुरुजी ने बाले को अपने गाँव जाने की अनुमति दे दी और स्वय कर्तारपुर में रहने लगे।

१२ कार्तिक सम्वत १५५० में उनकी माताजी का स्वर्ग वास हो गया। बीस दिन पीछे इनके पिताजी भी कूच कर गये।

गुरुजी का स्वर्गवास १० असौज सम्वत १५९६ वि० में हुआ था।

गुरुजी की भक्ति रस पूर्णवाणी का समह उनके सुयोग्य शिष्य और उत्तराधिकारी श्री अगददेवजी ने किया था जो कि श्री गुरु गून्थ साहिब में तथा स्वतन्त्र भी इस समय तक उपलब्ध होता है।

दयानन्द

महर्षि दयानन्द विशालकाय, हृष्ट पुष्ट शरीर, गौर वर्ण, ओजस्वी मुख मण्डल के कर्म योगी, दृढ़ व्रती, प्रत्युत्पन्नमति, महाविद्वान्, परोपकारी, बाल ब्रह्मचारी, सुवक्ता, सुलेखक और सुविचारक आदर्श सन्यासी थे। वह धर्म मेघ थे, जो अविद्या, अन्धकार, राग द्वेष और लोलुपता की धूल उड़ाती हुई भारत भूमि पर अन्ध विश्वासों और रूढ़ियों के दावानल में झुलसती जा रही मानवता के परित्राण के लिये, उसे फिर से हरी-भरी, सरस और मनोरम बनाने के लिये, विद्युत वेग से उठे। समस्त देश में उपदेश यात्रा करते हुए गरज गरजकर बरसे। आज यहाँ, कल वहाँ बरसे। चौदह वर्ष की कोमल आयु में इस महात्मा ने सच्चे शिव के दर्शन का व्रत लिया। सोलह वर्ष के थे, जब मृत्यु पर विजय पाने का निश्चय किया। बाईस वर्ष के थे, जब इष्ट मित्र, बन्धु बान्धव और कुटुम्ब-परिवार को छोड़कर कल्याण मार्ग के पथिक बने।

किया। नगर को लूटा लोगों को बन्दी बनाया और बड़ा उत्पात किया। बन्दियो में गुरुजी और भाई बालाजी भी थे।

जब बाबर को गुरुजी की प्रभु भक्ति का पता चला तो उसने गुरुजी का बहुत सन्मान किया। और खुश होकर उन्हें शराब का एक प्याला भेंट किया। परन्तु गुरुजी ने उसे स्वीकार न किया। कहा " मैंने वह नशा पिया है जो चढ कर कभी उतरता ही नहीं।" मुझे शराब की आवश्कता नही है गुरुजी और बालाजी सन्मान सहित मुक्त और बिदा हुए।

कर्तारपुर पहुच कर गुरुजी ने बाले को अपने गाँव जाने की अनुमति दे दी और स्वय कर्तारपुर में रहने लगे।

१२ कार्तिक सम्वत १५५० मे उनकी माताजी का स्वर्ग वास हो गया। बीस दिन पीछे इनके पिताजी भी कूच कर गये।

गुरुजी का स्वर्गवास १० असौज सम्वत १५६६ वि० में हुआ था।

गुरुजी की भक्ति रस पूर्णवाणी का सग्रह उनके सुयोग्य शिष्य और उत्तराधिकारी श्री अंगददेवजी ने किया था जो कि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में तथा स्वतन्त्र भी इस समय तक उपलब्ध होता है।

इस लेख की रचना की गई है। 'मानव धर्म' प्रचार का एक शक्तिशाली प्रयत्न आर्य समाज—जिसके साथ महर्षि दयानन्द-जैसे महापुरुष का नाम सलग्न है, कर्ण धारो की लापरवाही के कारण बेकार हुआ जा रहा है। उदार-चेता, तार्किक दयानन्द के अनुयायी, रुन्चाइयो की गहराई मे घुसने के बजाय, लकीरपन्था बनते जारहे हैं। पाठक वृन्द, लेख को आद्योपान्त पढकर अपनी विचार शक्ति को 'मानव धम के दस मूल मन्त्रो' पर केन्द्रित करें। जब जब भी मनुष्यता का ह्रास एक विशेष सीमा को पार करने लगता है, तब-तब ही दैव लीला अनुसार अशान्त-क्लान्त ससार का पथ प्रदर्शन करने के लिये जो ज्योति चमका करती है, उसके अनुसरण में सब का ही लाभ है, हानि किसी की भी नहीं।

महर्षि दयानन्द का जन्म पौष सम्वत १८८१ विक्रमो मे काठियावाड अन्तर्गत मोरवी राज्य के टकारा-नामक एक छोटे से ग्राम मे हुआ था। दयानन्द का बाल्य काल का नाम था मूलजी। मूलजी के पिता श्रीकर्षनजी बडे भूमिहार थे और लेन देन का काम भी करते थे। कर्षनजी शिव के उपासक, धर्मभीरु और धनी सज्जन थे। उन्होंने मूलजी को बाल्यावस्था मे ही स्तोत्र, उपदेश आदि कण्ठस्थ ... । का यज्ञोपवीत सस्कार हुआ।

अड़तीस वर्ष के थे, जब विद्या की भिक्षा माँगने के लिए गुरु विरजानन्द की कुण्डी खटखटाई। इतने थोड़े समय और अत्यन्त व्यस्त जीवन में, सैकड़ो शास्त्रार्थ हजारो व्याख्यान, हजारों पृष्ठ का क्रान्तिकारी साहित्य-निर्माण, इतना ही नहीं आरम्भ किये हुए 'मानव-धर्म'-प्रचार के कार्य को पूर्ण करने के लिए अपने प्रतिनिधि स्वरूप शक्ति-शाली आर्य समाज की स्थापना—यह उन्हीं अलौकिक महा-पुरुष का काम था। साधारण मनुष्यों में भला इतना सामर्थ्य कहाँ ?

अनेक सुयोग्य विद्वानो ने स्वामी दयानन्द के बहुत से छोटे बड़े जीवन-चरित्र लिखे हैं। सभी सुलभ हैं। रूढि वादी अन्ध विश्वासी लोगो के सकीर्णतम विचारो में दयानन्द ने उथल पुथल कैसे मचाई ? धर्म के शुद्ध स्वरूप को प्रकटाने के लिये उसने कितनी उच्च कोटि का तप, त्याग और बलिदान किया ? रीति-रिवाजो की कठोर बेड़ियो में जकड़ी हुई मानवता को बन्धन मुक्त कराने के लिए, मानवता की ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति को जानकर पुन. सन्मार्ग की ओर लौटाने, भारत के घर घर मे घुसी हुई साम्प्रदायिकता, जात पाँत, द्वेष-भावना, कायरता और फूट की महामारी को समूल नष्ट करने के लिये उन्होने क्या क्या किया ? कितना काम हो गया और अभी कितना बाकी है ? हम क्या करे ? संक्षेपत. यही बताने के लिये

इस लेख की रचना की गई है। 'मानव धर्म' प्रचार का एक शक्तिशाली प्रयत्न आर्य समाज—जिसके साथ महर्षि दयानन्द-जैसे महापुरुष का नाम सलग्न है, कर्ण धारों की लापरवाही के कारण बेकार हुआ जा रहा है। उदार चेता, तार्किक दयानन्द के अनुयायी, रूच्चाइयों की गहराई मे घुमने के बजाय, लकीरपन्था बनते जारहे हैं। पाठक वृन्द, लेख को आद्योपान्त पढकर अपनी विचार शक्ति को 'मानव धम के दस मूल मन्त्रों' पर केन्द्रित करें। जब जब भी मनुष्यता का ह्रास एक विशेष सीमा को पार करने लगता है, तब-तब ही दैव लीला अनुसार अशान्त-क्लान्त ससार का पथ प्रदर्शन करने के लिये जो ज्योति चमका करती है, उसके अनुसरण में सब का ही लाभ है, हानि किसी की भी नहीं।

महर्षि दयानन्द का जन्म पौष सम्वत् १८८१ विक्रमी मे काठियावाड प्रान्तर्गत मोरवी राज्य के टकारा नामक एक छोटे से ग्राम मे हुआ था। दयानन्द का बाल्य काल का नाम था मूलजी। मूलजी के पिता श्रीकर्षनजी बडे भूमिहार थे और लेन देन का काम भी करते थे। कर्षनजी शिव के उपासक, धर्मभीरु और धनी सज्जन थे। उन्होंने मूलजी को बाल्यावस्था मे ही बहुत से मन्त्र, स्तोत्र, उपदेश आदि कण्ठस्थ करा दिये। आठवें वर्ष मूलजी का यज्ञोपवीत सस्कार हुआ। मूलजी की अवस्था चौदह

वर्ष की थी, जब पिता ने शिवरात्रि का व्रत रखने की आज्ञा दी। रात को व्रती मूलजी शिव-पूजन और जागरण के लिये पिता के साथ शिवालय में गये। अर्द्ध रात्रि का समय हुआ, भक्त-जन निद्रामग्न होकर शिव-लोक की यात्रा करने लगे। भक्त बालक शिवलिंग की पिण्डी को निहारता और पिता के बताये हुए 'शिव-महात्म्य' का विचार करता हुआ, जागता रहा। सहसा एक चूहा शिव लिंग पर उछल-कूद मचाने तथा चढ़ी हुई सामग्री को खाने लगा। इसका बाल-विचारक मूलजी पर यह प्रभाव हुआ—"यह शिव नहीं है। मैं सच्चे शिव का पता लगाऊँगा।" मूलजी की आयु सोलह वर्ष की थी, जब उनकी प्रिय भगिनी की मृत्यु हो गई। मूलजी के हृदय पर इससे बहुत गहरा आघात लगा और गम्भीर चिन्तन में मूलजी रत रहने लगे। सोचते थे—"अहो! मेरी बहिन के समान सभी लोग एक एक करके, अवश्यमेव विकराल काल के गाल मे जायेंगे। निश्चय, मुझे भी उसी मार्ग का अनुसरण करना होगा। मृत्यु ऐसी अवश्यम्भावी है कि इससे छोटा-बड़ा कोई भी जीव बच नहीं सकता। कोई ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे जन्म-मरण के दारुण दुःख से छुटकारा मिले।" मूलजी उन्नीस वर्ष के थे, तो उनके अत्यन्त स्नेही चचा की मृत्यु होगई। अब मूलजी को वैराग्य की धुन लगी और गृह-त्याग की तैयारी करने लगे। किसी तरह पिताजी तथा अन्य घरवालों

को भी पता चल गया और वे मूलजी को विवाह बन्धन में जकड़ने के उपाय करने लगे ।

वह १६०२ का सम्वत् था। घर में विवाहोत्सव की तैयारियाँ हो रही थीं। एक दिन सायं समय सहसा उनका मन सम्बन्धियों के ममता-मोह से हट गया। अनुराग-रज्जु आजन्म के लिए टूट गया । बोले—"फिर लौटकर घर न आऊँगा।" वासना-समूह की पूर्णाहुति दी और घर से निकल पडे। मार्ग में साधु वेशधारी ठगों का एक दल मिला। यात्रा का कारण जानकर वे वैरागी युवक को चिढ़ाने और फुसलाने लगे—"देखो, त्यागी बनने चला है । हाथ की अँगूठियाँ, भूषण-आभरण रेशमी वस्त्र वैराग्य मार्ग में बाधा रूप हैं, इन्हें देवार्पण करके आशीर्वाद लो।" दयानन्द अँगूठी और आभूषण त्यागकर आगे बढे।

एक ब्रह्मचारीजी से दीक्षा लेकर, गेरुवे कपडे पहिने, तूँबी धारण की और चैतन्य नाम धराकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन गये। घर में माता पुत्र वियोग से व्याकुल थी। बन्धु बा धव चिन्ता-सागर में निमग्न एवं खोज में तत्पर थे। आखिर पिताजी ने पता लगाते-लगाते एक दिन सिद्धपुर के मेले में घूमते हुए ब्रह्मचारीजी को आ पकड़ा—"तूने सदैव के लिये हमारे कुल को दूषित कर दिया ! तू हमारे कुल में कलंक लगानेवाला जन्मा है।" पिता ने रक्त वर्ण आँखें करके कड़कती हुई वाणी से कहा। पिता की ताड़ना

से बचने का एक ही उपाय ब्रह्मचारीजी को सूझा। उठकर पिता के चरण पकड़े और कहा—"गृह त्याग मैंने धूर्त लोगो के बहकाने से किया है। मैं अपने इस काम का पर्याप्त फल पा चुका हूँ। शान्त हूजिये, क्षमा कीजिये। मैं तो यहाँ से घर ही आने को था। अच्छा हुआ, आप आ गये। मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ चलने को उद्यत हूँ।"

क्या ब्रह्मचारीजी ने सच-सच कहा? नहीं, हाँ, अपने उद्देश्य सिद्धि का जो भी मार्ग उन्हे सूझा, वे उस पर चले। वे बात बनाकर पिता के साथ गये और अवसर पाकर फिर भाग निकले। 'मानव धर्म' महान् उद्देश्यो की साधना के लिये किये गये झूठ को झूठ और छल को छल नहीं मानता।*

ब्रह्मचर्य दीक्षा की पद्धति के अनुसार ब्रह्मचारीजी अपने हाथ का पकाया हुआ भोजन ही खाते थे। इसमें झंझट तो था ही, आत्म-चिन्तन और स्वाध्याय आदि में बाधा भी बहुत होती थी। ब्रह्मचारीजी ने सन्यासी बनने का निश्चय किया। किसी योग्य गुरु की खोज होने लगी। दण्डी स्वामी

* 'मानव को सत्य की प्रचलित व्याख्या के अनुसार आचरण करने की आवश्यकता नहीं, बल्कि एक नई ही परिभाषा पर अपना चरित्र निर्माण और जीवन क्रम स्थिर करना चाहिये।'—

'मानव धर्म के दस मूल मन्त्र' प्रथम सस्करण, चौथा मन्त्र, पृष्ठ २८ की ११वीं पंक्ति से १२वी पंक्ति तक। —सम्पादक

श्री पूर्णानन्दजी महाराज से सन्यास की दीक्षा लेकर ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्यजी, जोकि किसी समय मूलजी कहलाते थे, दयानन्द सन्यासी के रूप में परिणत हो गये। इस समय उनकी आयु २४ वर्ष की थी। सच्चे शिव की खोज और मृत्यु पर विजय पाने का शौक महर्षि दयानन्द को कहाँ-कहाँ ले गया, यह एक लम्बा इतिहास है। अनेक स्थानों में रैन-बसेरा करते, देश और धर्म की दुर्दशा को निहारते और मठाधीश पढे पुजारियो के अध पतन को अवलोकन करते-करते चित्त की उद्विग्नता बढ गई, तो महर्षि दयानन्द ने हिमालय की कन्दराओं में विद्वान योगी महात्माओं की खोज की, यहाँ भी सब कोई सुल्फे के धुएँ से आच्छन्न दिखाई दिये।

ओखी मठ के महन्त ने महर्षि दयानन्द को अपना मुख्य शिष्य बनाकर अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा। अपने मठ के धन ऐश्वर्य का लालच भी दिया, मगर ये न माने। कहा—'यदि मुझे धन की अभिलाषा होती, तो अपने पिता की सम्पत्ति को ही क्यो छोड़ता जो तुम्हारे इस ऐश्वर्य से बहुत अधिक थी? जिस उद्देश्य से मैंने घर छोड़ा है, न तुम उसके लिये यत्नशील हो, न तुम्हें उसका पता, भला मैं तुम्हारे पास कैसे रह सकता हूँ? मैं सत्य, योग विद्या और मोक्ष की खोज मे हूँ। जब तक ये प्राप्त न होंगे, बराबर देशवासियो की सेवा करता रहूँगा।"

पन्द्रह वर्ष तक जिज्ञासु दयानन्द ने पहाड़ों और मैदानों को नापा, अनेक कष्ठ सहे, सब कुछ सत्य और योग के लिये। परन्तु न हिमालय की सर्दी में दिल की आग बुझी, न गंगा और नर्मदा के जल ने हृदय की ज्वाला को शान्त किया। महर्षि ने सुना, मथुरा में एक विद्वान् योगी रहते हैं। कार्तिक सुदी २, संवत् १९१७ तदनुसार १४ नवम्बर सन् १८६० के दिन उन्होंने मथुरा पहुँचकर, स्वामी विरजानन्दजी का दरवाजा खटखटाया। आवाज आई—

"कौन ?"

"एक जिज्ञासु, दयानन्द।"

"क्या चाहता है ?"

"विद्या और योग।"

"कुछ पढ़ा है ?"

"सारस्वत पढ़ा हूँ।"

आज्ञा हुई, पहिले सब अनार्ष ग्रन्थ यमुना में फेंक आओ। जो कुछ पढ़ा है, भूल जाओ। तब ऋषियों के ज्ञान के अधिकारी बन सकोगे। दयानन्द ने आज्ञा को शिरोधार्य किया और गुरु के चरणों में बैठकर विद्यामृत का पान करने लगे।

स्वामी विरजानन्दजी उच्च कोटि के विद्वान् सन्यासी थे। उनका जन्म-स्थान कर्तारपुर (पंजाब) के पास गंगापुर ग्राम है। प्राय पाँच वर्ष की आयु में उन पर चेचक का

भयकर आक्रमण हुआ। जान तो बच गई, परन्तु जीवन-भर के लिये नेत्र-विहीन हो गये। इसके कुछ काल पश्चात् माता-पिता का देहावसान हो गया। अन्धे बालक ने ऋषिकेश, हरिद्वार, काशी, गया आदि में रहकर विद्या प्राप्त की। अपनी अद्भुत प्रतिभा से उन्होंने सरस्वती देवी का आशीर्वाद सहज में ही प्राप्त कर लिया और मथुरा में पाठशाला खोलकर विद्या-दान देने लगे। उनके बारे में प्रसिद्ध है कि कठिन से कठिन ग्रन्थ भी उन्हें केवल एक बार सुन लेने-मात्र से कण्ठस्थ हो जाते थे। न-जाने कब से मथुरा मे बैठे स्वामी विरजानन्दजी दयानन्दजी की बाट जोह रहे थे। योग्य गुरु को योग्य शिष्य मिला। अनायास ही गुरु ने अपनी विद्या को अक्षय निधि शिष्य को समर्पित कर दी। शिष्य ने भी अपनी सेवा से गुरु को प्रसन्न करने में कोई कसर न रखी। वे उन दिनो शीत-काल में भी बडे सवेरे ही उठकर गुरुजी के स्नान के लिए आठ घडे जल नित्य प्रति लाया करते थे। दयानन्द की गुरु भक्ति के विषय में प्रसिद्धि है कि 'एक दिन दयानन्दजी ने गुरु की कुटिया मे झाड़ू दी और कूड़ा बाद मे उठाकर बाहर फेंकने के लिये एक कोने मे जमा कर दिया, परन्तु बाद मे फेंकना भूल गये। दिन मे विरजानन्दजी का पाँव कूडे से लगा तो उन्हें क्रोध आगया। इस पर उन्होंने हाथ से दयानन्द को मारा। पिट चुकने पर दयानन्द गुरु के हाथ दबाने

लगे, बोले—महाराज, मेरा शरीर बहुत कठोर है, आपके हाथ मे कष्ट हुआ होगा।

इन दिनो दयानन्द जी प्रात काल कुछ चने चबा लेते थे, जो दुर्गा खत्री की कृपा से प्राप्त होते थे। भोजन का प्रबन्ध बाबा अमरलाल जोशी कर देते थे। रात को पढने के लिये तेल खर्च के चार आने मासिक ला० गोवर्धन सर्राफ से मिल जाते थे। विद्या-दान से निहाल होकर दयानन्द विदा होने लगे तो कहीं से आध सेर लौंग माँग लाये और गुरु को भेंट करने लगे। गुरु ने कहा—"मैं लौंगें नहीं, ऐसी चीज लूँगा, जो इन से भी बढ कर तेरे पास है।"

"आज्ञा कीजिये महाराज।" दयानन्द ने भक्ति-पूर्वक कहा।

"देश का उपकार करो। मत मतान्तरो की अविद्या को मिटाओ। धर्म को फैलाओ।"

गुरु के इस आदेश की पूर्ति दयानन्द के जीवन का चरम लक्ष्य बन गई।

स्वामी दयानन्द जी घूम घूमकर देश में प्रचार द्वारा जागृति उत्पन्न करने लगे। चैत्र सम्वत् १६२४ मे हरिद्वार मे कुम्भ का बड़ा भारी मेला होनेवाला था। स्वामीजी इस अवसर को अपने प्रचार-कार्य के लिये अत्यन्त उपयोगी जानकर एक मास पूर्व ही हरिद्वार पहुँचे। वहाँ

स्वामीजी ने 'पाखण्ड खण्डनी पताका" स्थापित की और सत्योपदेश आरम्भ कर दिया। सहस्रों की संख्या में श्रोता जन नित्य-प्रति उपदेशामृत से निहाल होते थे। स्वामीजी ने डटकर प्राचीन रूढियों और धार्मिक ढकोसलो पर कुठाराघात किया। कुम्भ का पुण्य पर्व आया और चला गया। स्वामीजी साधु-समाज को विशेषतया प्रभावित करना चाहते थे। परन्तु यथेष्ट प्रभाव हुआ नहीं। प्रचार-कार्य रोककर स्वामीजी प्रभाव का हिसाब लगाने लगे तो ज्ञात हुआ—जितना लाभ चाहिये था, उतना हुआ नहीं। क्यों ? निश्चय हुआ, अभी तपस्या की कुछ कमी है। ऐसा निश्चय कर, स्वामीजी के पास जो कुछ पुस्तकें वस्त्र आदि थे, वे भी उन्होंने त्याग दिये और तन पर राख रमाकर कौपीन मात्र धारण करके मौनावलम्बी हो गये। व्याख्यान देना और वाद-विवाद ही नहीं, बोलना भी बन्द कर दिया। परन्तु कब तक चुप रहते ? उन्होने एक दिन एक आदमी को मिथ्या प्रचार करते सुना, झट उसके खण्डन में प्रवृत्त हो गये। ठीक है—'मौनात्सत्य विशिष्यते।' चुप रहने से सत्य बोलना श्रेष्ठ है।

स्वामीजी का जीवन विविध शिक्षाप्रद घटनाओ से ओत प्रोत है। एक बार कर्णवास मे स्वामीजी ने रास लीला आदि का खण्डन किया। इस पर वहाँ का ठाकुर राव कर्णसिंह तलवार लेकर स्वामी को मारने के लिये बढा,

स्वामीजी ने झपटकर तलवार छीन ली। अब तो कर्णसिंह बहुत घबराया। परन्तु स्वामीजी ने उसे गम्भीर भाव से कहा—'यदि लड़ना ही है, तो जयपुर, जोधपुर से जाकर लड़ो। अगर मेरा मुकाबला करना है तो तलवार नहीं, अपने गुरु को साथ लेकर आओ' और तलवार को पाँव के नीचे दबाकर उन्होंने दो टुकड़े करके फेंक दिया।

अनूपशहर की घटना है। एक ब्राह्मण ने अत्यन्त अनुनय-विनय और श्रद्धा-भक्ति दर्शाकर स्वामीजी को पान भेंट किया। महाराजा ने उसे चबाया तो पता लगा, पान मे विप दिया गया है। योग-क्रिया-द्वारा उन्होने विप का प्रभाव नष्ट कर दिया। अनूपशहर का तहसीलदार सय्यद-मुहम्मद स्वामीजी का अत्यन्त श्रद्धालु भक्त था। उसे पता चला तो उसने अपराधी को पकड़वा मँगाया और जेल मे डाल दिया। पुन जब तहसीलदार स्वामीजी से मिला तो स्वामीजी बेरुखी से पेश आये। सय्यदमुहम्मद ने अप्रसन्नता का कारण पूछा तो स्वामीजी बोले—"मैंने सुना है, आज आपने मेरे लिये एक आदमी को जेल मे डाला है। उसे छोड़ दीजिये। मैं मनुष्यो को बँधवाने नहीं, बन्धनो से छुडाने आया हूँ।'

एक बार बुलन्दशहर के कलेक्टर साहेब कर्णवास में स्वामीजी से मिलने आये। उससमय स्वामीजी को अवकाश था। कलेक्टर ने पुछवाया— कब अवकाश होगा ?'

उत्तर में स्वामीजी ने भी पुछवाया—'आपको कब अवकाश होगा ?' कलेक्टर ने कहला भेजा, 'चार घण्टे के बाद मुझे अवकाश-ही-अवकाश है।' यह सुनते ही स्वामीजी कुटी से निकल आये। शिष्टाचार के साथ साथ कलेक्टर महोदय को कुछ उपदेश भी दिया और कहा—'जिसके सिर पर एक परिवार का भी बोझ है, उसे भी बडी दौड़ धूप करनी पड़ती है। आपके कथन से बड़ा आश्चर्य हुआ कि आपके कन्धों पर सहस्रों मनुष्यों का बोझ है, दीन दुःखियो के कष्टो का निवारण आपका कर्तव्य है और तिस पर भी चार घण्टे पश्चात् आपको अवकाश ही अवकाश है।'

स्वामीजी की तबियत में जिद्दीपन नाम को भी न था। युक्ति सगत बात को वे तुरन्त मान लेते थे। स्वामीजी कलकत्ता गये तो ब्रह्म समाज के प्रसिद्ध नेता श्री केशवचन्द्र सेन ने उनसे कहा—'स्वामीजी आपको उपदेश आदि देने के लिये नगर-निवासी स्त्री पुरुषो मे जाना आना होता है, अत आप कुछ हल्के कपडे पहिन लिया करें तो कैसा हो ?' तब से स्वामीजी वस्त्र पहिनने लग गये। इससे [illegible] वे [illegible] कौपीन धारण किया करते थे।

अनूपशहर में एक बार उमेदा नाई [illegible] रोटी लाया। स्वामी जी लेकर खाने [illegible] कुछ ब्राह्मण भी उपस्थित थे। वे [illegible] जी, क्या करते हो ? नाई की रोटी

बड़ौदा की घटना है। एक दिन स्वामी जी हजामत करा रहे थे। इतने में एक शास्त्री भी वहाँ आ गया और कहने लगा—"सन्यासियों का धर्म तो त्याग है, आप इस देह की सजावट मे क्यों लगे हैं ?" स्वामी जी ने कहा—"यदि बाल बढाने मे ही त्याग है, तो रीछ सबसे बडा त्यागी सिद्ध होगा। ऐसी बातो मे त्याग और वैराग्य नहीं है। देह की रक्षा के लिये उसे सँवारना, सुधारना, धर्मानुकूल है। जैसे प्रमादी पुरुष पुष्ट शरीर से अधिक पापाचरण करते हैं, ऐसे ही परोपकारी जन परिपुष्ट और बलिष्ठ काया से अधिक धर्म कर्म करते हैं।"*

एक और शास्त्री ने कहा—"आप धन ग्रहण कर लेते हैं। सन्यासी को तो धन छूना भी न चाहिये।" स्वामी जी ने कहा—"सन्यासियों को सग्रह नहीं करना चाहिये। परोपकार के लिये धन ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है।"

* 'मानव धर्म' मे इस बात पर सब से अधिक बल दिया गया है कि यह ससार विश्व की सब से अधिक सुखद जगह है और मानव जीवन विश्व की सब मे बड़ी विभूति है। ऐसी दशा में मानव जीवन को अधिक से अधिक दीर्घ तथा सुखी बनाना सब मे अधिक आवश्यक है। महर्षि दयानन्द एक आदर्श सन्यासी थे, क्योंकि आदर्श सन्यासी वेही हैं, जो सन्यास जीवन में अन्य सब प्रकार के जीवन से अधिक आनन्द लाभ करते हैं और इस जीवन की रक्षा उसी प्रकार सावधानता से करते हैं, जिस प्रकार गृहस्थ जनों को करनी चाहिये। —सम्पादक

आज कल के लोग झूठे मान मर्यादा के फेर में पड़ कर भारी कष्ट उठा रहे हैं और धन, जन एवं शक्ति का भारी दुरुपयोग हो रहा है। स्वामी जी में यह बुराई नाम को भी न थी। उन्होंने संस्कृत प्रचारार्थ तथा अपने 'ध्येय' की पूर्ति के लिये कार्यकर्ता तैयार करने के वास्ते फर्रुखाबाद-आदि स्थानों में कई पाठशालायें खोलीं थीं। थोड़े अनुभव के पश्चात् जब स्वामी जी ने देखा कि उनसे कोई लाभ नहीं, तो उन अनुपयोगी संस्थाओं को तुरन्त बन्द कर दिया और कुछ भी आना कानी न की।

हिन्दुस्तान का सर्व प्रथम आर्य अनाथालय फिरोजपुर में है और सर्व प्रथम गो शाला रिवाड़ी में। इनकी स्थापना स्वामी दयानन्द जी ने ही की थी।

एक बार केशवचन्द्र सेन महोदय ने स्वामी जी से कहा "खेद है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान अंग्रेजी नहीं जानता, अन्यथा विलायत यात्रा में वह मेरा मन पसन्द साथी होता।" स्वामी जी ने हँस कर उत्तर दिया—"खेद है, ब्रह्म-समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता, जिसके गर्भ में ब्रह्म विद्या भरी हुई है और लोगों को ऐसी भाषा में उपदेश देता है, जिसे वे समझ नहीं सकते।"

स्वामी जी बहुत नियम से तो नहीं, पर कभी कभी हुक्का पिया करते थे। बीच बीच में कई बार उन्होंने हुक्का पीना सर्वथा छोड़ देने की प्रतिज्ञा भी की, परन्तु

ज्ञात होता है कि हुक्का फिर-फिर उन्हें पकड़ लेता था। स्वामी जी के आर्य समाज की ओर से दो प्रमाणिक और विशालकाय जीवन चरित्र प्रकाशित हुए हैं। एक स्वामी सत्यानन्द जी लिखित 'दयानन्द-प्रकाश' और दूसरा देवेन्द्र बाबू द्वारा सगृहीत एव श्री घासीराम एम० ए० द्वारा सपादित 'महर्षि दयानन्द का जीवन- चरित्र दोनों मे ही स्वामी जी के हुक्का पीने का वर्णन आता है। बहुत से आर्य-समाजी स्वामी जी के हुक्का पीने की बात से चिढा करते हैं। पर इसमें चिढने की बात नहीं है। स्वामी जी अन्यमत वालो के प्रति कभी कभी जिस प्रकार अत्यन्त कठोर भाषा का प्रयोग कर डालते थे, मैं समझता हूँ उनके स्वभाव की इस आकस्मिक कर्कशता का कारण कुछ हद तक यह धूम पान ही था।

महाराणी विक्टोरिया के राज्याभिषेक के उपलक्ष मे १ जनवरी सन् १८७७ में लार्ड लिटन गवर्नर जनरल व वायसराय हिन्द ने देहली मे एक बडा भारी दरबार किया था, जिसके सिलसिले मे भारत के देशी नरेश, प्रमुख विद्वान् तथा करोडो की सख्या में जन साधारण देहली पधारे थे। स्वामी दयानन्द जी उन दिनों भारत के विभिन्न धार्मिक नेताओं और सुधारको को किसी एक धर्म, भाषा और नीति पर सहमत करने क[illegible] रहे थे। अपने उद्[illegible] पूर्ति के [illegible]

दरबार के अवसर से लाभ उठाने का यथा साध्य पूर्ण प्रयत्न किया। उधर लार्ड लिटन का दरबार लगा, इधर स्वामी दयानन्द का। स्वामी के दरबार में, प्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सय्यद अहमद खाँ, मुंशी कन्हैयालाल अलख धारी, बाबु नवीनचन्द्र राय, बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि प्रभृति नेता और सुधारक उपस्थित थे। स्वामी जी का यह यत्न उस समय सफल नहीं हो सका, परन्तु इसके बाद भी वे इस दिशा में विशेष यत्नवान् रहे। यदि मौत का दूत उन्हें कुछ और भी मोहलत देता तो शायद किसी रूप में उन्हें कुछ सफलता मिल ही जाती।

भारत में तो आर्य समाज की धूम मची ही, परन्तु विदेशों में भी आर्य-समाज की लहर स्वामी दयानन्द जी के जीवन काल में ही पहुँच गई थी। जिन दिनों भारत में आर्य समाज की स्थापना हुई, उन्हीं दिनो कर्नल अल्काट और मेडम बल्वेटकी ने मिल कर अमेरिका में 'थियो सोफिकल सोसाइटी' अर्थात् 'ब्रह्म विद्या प्रचारिणी सभा' की स्थापना की थी। कर्नल अल्काट व मैडम बल्वेटकी तथा स्वामी दयानन्द के मध्य देर तक पत्र-व्यवहार भी होता रहा था और अनेक भक्ति भाव व प्रेमपूर्ण पत्रों का आदान प्रदान हुआ था। इस पत्र व्यवहार के परिणाम स्वरूप 'थियो सोफिकल सोसायटी' को आर्य समाज की शाखा बना दिया गया था। पीछे स्वामी जी के दर्शन करने,

उक्त दोनो भक्त अमरीका से भारत पधारे थे। आगे चल कर स्वामी जी से उनका मत-भेद हो गया और यह गठबन्धन चिर स्थायी न हो सका।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रचारित मन्तव्य

१—आर्य-समाज तीन पदार्थ अनादि मानता है—ईश्वर जीव और प्रकृति

(क) ईश्वर सच्चिदानन्द-आदि लक्षण युक्त है।

(ख) जीव अनन्त एव इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख ज्ञानादि गुण युक्त अल्पज्ञ तथा नित्य हैं।

(ग) जीव और ईश्वर परस्पर भिन्न और व्याप्य और व्यापक, उपास्य उपासक एव पिता पुत्र आदि सम्बन्ध युक्त हैं।

(घ) प्रकृति जड है, जो नाना द्रव्यो के रूप मे दीख पड़ती है।

२—जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र है।

३—पाप पुण्य—विद्यादि शुभ गुणों का दान और सत्य भाषणादि सत्य व्यवहार करना पुण्य और इसके विपरीत पाप कहलाता है।

४—स्वर्ग नर्क—जीव को उसके लिये सुख विशेष और सुख की सामग्री का प्राप्त होना ही स्वर्ग है। और इसी प्रकार पाप कर्म के फल-स्वरूप विशेष दुःख और दुःख की सामग्री

प्राप्त होने का नाम नर्क है। स्वर्ग-नर्क किन्हीं लोक या देश विशेष का नाम नहीं है।

४—पुनर्जन्म—जीव अपने कर्मानुसार नाना योनियों में बार-बार जन्म लेते हैं, शरीर धारण करना जन्म, और शरीर से आत्मा के वियोग का नाम मृत्यु है।

६—मुक्ति सब बुरे काम और जन्म-मरण आदि दुख सागर से छूट कर सुख-रूप परमेश्वर को प्राप्त हो, सुख में ही रहना मुक्ति कहलाता है। सान्त कर्म फल होने से मुक्ति सान्त होती है।

७—स्तुति—ईश्वर के गुणों का कीर्तन, श्रवण और ज्ञान—इससे ईश्वर में प्रीति और उसके गुण, कर्म, स्व भाव से अपने गुण, कर्म, स्वभाव का सुधारना आदि फल होते हैं।

८—प्रार्थना—अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण ग्रहण के लिये प्रीति और पुरुषार्थ का होना आदि प्रार्थना के फल हैं।

९—उपासना—पर ब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना उपासना कहलाता है।

१०—पूजा—ज्ञानादि गुण युक्त चेतन का यथा योग्य सत्कार करना ही पूजा है।

११—आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम अर्थात् मनुष्य जीवन की चार अवस्थायें हैं।

११—वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार वर्ण प्रत्येक मनुष्य को उसके गुण, कर्म, स्वभावानुसार प्राप्त होने चाहियें, जन्म से नहीं।*

स्वामी जी ने 'थियोसोफिकल सोसायटी' अमेरिका के सभापति श्रीयुत् हेनरी एस० आल्कॉट महोदय को लिखे एक पत्र में 'आर्य'—शब्द की निम्न व्याख्या की थी'—

'आर्य'-शब्द का अर्थ—जो अपनी विद्या, शिक्षा, सर्व पकार, धर्माचरण से युक्त होने के कारण इस योग्य है कि लोग उसे जानें, उसकी सगति करें, उसे प्राप्त करें, वह 'आर्य' है।"

आर्य-समाज के दस नियमों में भी प्रकारान्तर से उपर्युक्त मन्तव्यों को ही प्रकट किया गया है। आर्य-समाज और स्वामी जी की पूर्ण फिलॉसफी का समावेश उक्त मन्तव्यों में हो जाता है इसलिये मैं साहसपूर्वक कहता हूँ

* 'मानव धर्म' ब्रह्म को वर्णनातीत मानता है तथा जीव और प्रकृति के ब्रह्म को दो भाग। तीनों ही तत्व अनादि हैं। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में आर्य समाज के सिद्धान्तों को 'मानव-धर्म' हिन्दू-धर्म की शाखा, उपशाखाओं के लिये सबसे अधिक उचित और व्यावहारिक स्वीकार करता है। आर्य समाज के अन्य समस्त मन्तव्य 'मानव धर्म' के मन्तव्यों के अनुकूल हैं तथा मूर्ति पूजा की परिपाटी के आर्य-समाज के नियमों में प्रविष्ट होने की भविष्य-वाणी 'मानव धर्म' करता है। —सम्पादक

कि स्वामी दयानन्द 'मानव धर्म' के महान् प्रचारक थे और आर्य समाज 'मानव धर्म'-आन्दोलन की लडी की एक उत्कृष्ट और ताजा कड़ी है। यदि आर्य समाज को एक क्षुद्र सम्प्रदाय बनने से बचाया जा सके, जैसा कि वह प्राय बन गया है, तो मानव जाति का बड़ा हित होगा।

स्वामी दयानन्द के आर्य समाज का स्वरूप आरम्भ मे आज—जैसा न था। लोग आर्य समाज से कैसी कैसी आशायें करने लग पड़े थे, इसका एक सुन्दर उदाहरण नीचे के लेख में मिलता है, जिसे अमरीका के प्रसिद्ध दार्शनिक ऐण्ड्रयू जैकसन ने लिखा था—

"देखो आग ! सर्व व्यापक आग !! अप्रमेय प्रेम की आग !!! सर्व द्वेष को भस्मसात् करने और सर्व वस्तु जगत् को पिघला कर पवित्र करने के लिये प्रज्वलित हो रही है। अमेरिका के प्रशस्त क्षेत्रो, अफ्रीका के बड़े स्थलों, एशिया के ध्रुव पर्वतो, योरोप के विशाल साम्राज्यो और राष्ट्रो में सर्वनाशन, सर्वपावन इस पावक की ज्वालाए मुझे दिखाई दे रही हैं। प्रथम इस अग्नि की ध्वनि निम्नतम स्थानो में सुनाई देती है। मनुष्य उसको अपने सुख और उन्नति के लिये प्रकाशित करता है, क्योकि मनुष्य ही ऐसा पार्थिव प्राणी है, जो अग्नि को प्रज्वलित करके स्थिर रख सकता है, जैसा कि मनुष्य ही ध्वनि व शब्दो से जन्म देकर सब प्रथम अपने घरो में नारकीय अग्नियों को भडकाता है।

(द्वेष फैलाता है) और वही उस अग्नि को जब स्वर्गीय रूप में प्रकटाता है तो अन्धकारपूर्ण घर प्रेम से पवित्र और मेधा से सुप्रकाशित हो जाते हैं। इस अनन्त अग्नि को, जो कि निश्चय ही संसार-भर के राज्यों, साम्राज्यों और शासन सम्बन्धी दोषों को पिघला डालेगी, देखकर मैं अतीव हर्षित हो रहा हूँ।"

पर, समीप से देखने वाले जानते हैं कि अभी आर्य-समाज गृह कलह के दावानल तक से आगे नहीं बढ़ा। महर्षि दयानन्द का महान् अनुष्ठान और बलिदान बेकार तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह अपना कार्य कर चुका, लेकिन आने वाले युग में उससे जो लाभ हो सकता था, वह होता दिखाई नहीं देता।

आर्य-समाज में फूट

लेखक के मतानुसार प्रजा-तन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर आर्य समाज का संगठन करने में स्वामी दयानन्द ने जल्दी की। क्योंकि इस प्रथा के अनुसार कोई भी चलता पुर्जा व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण वोट बटोर कर समाज का चौधरी बन बैठता है और उसकी सारी कमजोरियों और गलतियों का फल समाज को भुगतना पड़ता है। उच्च आध्यात्मिक योग्यता को प्रजा तन्त्र प्रणाली में कुछ भी महत्व नहीं दिया जाता। यही कारण है कि आर्य-समाज अपने ध्येय से विचलित हुआ और अब, स्वामी दया-

नन्द के अकाल अवसान के पश्चात् आत्मघात सा कर रहा प्रतीत हुता है। आपसी झगड़ों को तो प्रजा-तन्त्र की पहली सीढ़ी तथा जीवन और जागृति क चिन्ह समझा जाता है। आर्य समाज मे पहले ये चिन्ह घास-पार्टी और माँस पार्टी के नाम पर प्रकट हुए। फिर कॉलिज पार्टी और गुरुकुल पार्टी के रूप में बदल गये, पर मिट न सके। आज तो आर्य समाज मे श्रेणी गत स्वार्थों के आधार पर दर्जनो परस्पर-विरोधी वर्ग उत्पन्न हो चुके हैं। पवित्र धर्म-मन्दिर निर्वाचन का अखाड़ा बन कर रह गये हैं।

भारतवर्ष की औद्योगिक उन्नति के लिये स्वामी दया नन्द ने जो यत्न आरम्भ किया था और भारतीय नव युवको को जर्मनी आदि देशो मे भेज कर कला कौशल की उच्च शिक्षा दिलाने का जो यत्न किया था, अभी तक उसकी ओर उचित मात्रा मे किसी ने भी ध्यान नहीं दिया है। आर्य समाज को तो थोड़े से चन्दा बटोर रख कर चन्दा बटोरने के सिवा इधर रुचि नहीं। देखें कौन माई का लाल कब इधर ध्यान देता है ?

अपने अन्तिम दिनो में स्वामी जी देशी रजवाड़ो से सम्पर्क स्थापित करने और देशी राज्यो मे जागृति फैलाने का यत्न कर रहे थे। जब वे जोधपुर मे थे तो उनके पाचक जगन्नाथ ने विरोधियों से मिलकर उन्हें दूध में मिलाकर

रामकृष्ण ने सचाई को ऐसी प्रभावपूर्ण वाणी में प्रकट किया जो उस समय के किसी भी आध्यात्मिक नेता को प्राप्त नहीं हो सकी। उन्होने ईश्वर का अस्तित्व थके माँदे मनुष्य के सम्मुख सुप्रकाशित कर दिया।"

भारत में, बगाल सर्वप्रथम पाश्चात्य सभ्यता की लहर में बहा और बहुत जोर से बहा। यदि इस बहाव को रोका न जाता, तो भारत का बहुत बड़ा अहित होता। आश्चर्य की बात है कि जिस व्यक्ति ने इस लहर को रोकने में सब से अधिक भाग लिया वह एक अक्षर भी लिख पढ न सकता था। वह एक ऐसा मनुष्य था कि लोग उसको निकम्मा कह सकते थे, परन्तु उसमे आध्यात्मिक विशेषतायें थीं। वह एक सच्चा मनुष्य और दृढ ईश्वर विश्वासी था। वह ऐसा जीवन व्यतीत करता था कि लोग उसको पागल कहते थे। उसमें सभ्यता के कोई प्रकट चिन्ह न थे। उसका निर्वाह लोगो की दान दक्षिणा पर चलता था, परन्तु श्री केशवचन्द्र सेन और श्री स्वामी विवेकानन्द जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त मानव धर्म प्रचारक उसके चरणो में बैठकर शिक्षा ग्रहण करते थे। उसकी चरण रज को पाकर अपने को धन्य समझते थे। ससार के महान् विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षा प्राप्त विद्वान उसके चरणों पर नत मस्तक होते थे और वह था 'स्वामी रामकृष्ण परम हंस।'

परम हसजी में बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होने

संसार के प्रत्येक धर्म मत को सत्य घोषित किया। प्रत्येक मत को क्रमश ग्रहण करके वे पृथक पृथक उपासना पद्धति के अनुष्ठान द्वारा इस परिणाम पर पहुँचे कि सब मतो में सच्चाई तक पहुँचने का मार्ग मौजूद है। वे इस बात पर बहुत बल देते थे कि प्रत्येक मनुष्य को अपने-अपने धर्म के अनुसार ही दृढता पूर्वक आचरण करना चाहिए। मुसलमान मुसलमान रहें, हिन्दू हिन्दू रहें, ईसाई ईसाई रहें और सब भी इसी प्रकार अपने अपने धर्म में दृढ़ रहें। इस प्रकार जब वे एक ही परिणाम पर पहुँचेंगे तो स्वय ही सब की सच्चाई को अनुभव कर लेंगे। उनका यह भी कथन है कि "अपने धर्म मे दृढता से स्थिर रहो, परन्तु दूसरो को घृणा की दृष्टि से न देखो। अपितु उनका भी उचित मान करो। सब के महापुरुषो का नाम सम्मान के साथ लो। वे सब एक ही ज्योति के विभिन्न रूप और एक ही पथ के प्रदर्शक, एक ही वृक्ष के फल और एक ही पवित्र मानव धर्म के प्रचारक थे।"

जब सब का एक ही मूल स्रोत है और एक ही उद्देश्य तो फिर यह राग-द्वेष क्यो है? यह खण्डन मण्डन कैसा हो रहा है? ये विरोधी लेख और भाषण किस लिये? यह वैर विरोध और रात दिन का झगड़ा तकरार क्यों हो रहा है? इन सब का उत्तर यह है कि एक को दूसरे की वास्तविकता का पता नहीं। मिथ्या, दूषित संस्कारों और भिन्न - भिन्न भाषा के कारण ऐसा हो रहा है।

परम हंसजी दृष्टान्त देकर समझाया करते थे कि दो मनुष्य एक गिरगट के रंग पर विचार कर रहे थे। एक कहता था गिरगट लाल है। दूसरा कहता था नहीं, नीला है। दोनों एक विद्वान् मनुष्य के पास गये, जो गिरगट को प्रति दिन रङ्ग बदलते देखा करता था। उसने कहा—"तुम दोनो सच्चे हो। इतना और समझ लो कि एक ही गिरगट रङ्ग बदल कर कभी लाल और कभी नीला बन जाता है।

मनुष्यो, आओ !! पारस्परिक राग द्वेप को छोड़ो, तुम में कोई मौलिक भेद नहीं है। तुम्हारा सिद्धान्त एक, जीवन चर्या एक, उठना, बैठना, चलना, फिरना एक, आरम्भ एक और अन्त एक। वे तुम्हारे और अपने साथ भी अन्याय करते हैं, जो कहते हैं कि तुम अलग-अलग हो।

आओ ! छोडो इस गृह कलह को। यह लड़ाई भिड़ाई तुम्हें शोभा नहीं देती। देश में द्वेपभाव की ज्वाला न भिडकाओ। क्या झगडा-फिसाद ही तुम्हारा प्यारा काम रह गया है, जिसने अपने आपको नहीं जाना वह ईश्वर को नहीं जान सकता। ईश्वर ने अपने अटल नियम के अनुसार परमहंसजी को झूठे झगडे मिटाने और सब को एक मानव धर्म जाति की दीक्षा देने के लिये भेजा था। उनके आदेश और उपदेश सर्वमान्य और विश्वव्यापी सच्चाइयों से ओत प्रोत हैं।

परमहंसजी का जन्म १७ फरवरी सन् १८३६ ई० को बंगाल प्रान्तर्गत जिला हुगली में जहान आबाद के निकट कुमार पुरकर ग्राम में श्री खुदीराम चटर्जी के घर हुआ था। खुदीराम के दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। खुदीराम बहुत सत्यवादी, सरल चित्त और ईश्वर विश्वासी ब्राह्मण था। उसे एक छोटा सा खेत दान में मिला था और उसी की आय इसी से परिवार का भरण पोषण होता था। ग्रामवासी उसका विशेष मान करते थे। उसकी पत्नी श्रीमती चन्द्रमणी देवी भी पति के अनुरूप ही आदर्श महिलाथी। बड़े पुत्र का नाम राम कुमार था वह कलकत्ते के समीप एक पाठशाला में अध्यापक हो गया था। छोटे का नाम गदाधर था। प्रेमवश इसे गदाला भी कहते थे। आगे चलकर यही गदाला श्री स्वामी रामकृष्णपरमहंस के नाम से विख्यात हुआ। गदाले में कुछ ऐसा आकर्षण था कि जो भी उसे देखता प्रेम से गले लगा लेता। मुहल्ले की स्त्रियाँ उसे गोद में उठाये उठाये फिरती रहती। अच्छी अच्छी चीजें अपने बाल बच्चों से छिपाकर गदाले के लिये रख छोड़तीं। बाल्य काल से ही गदाला बड़ा होनहार था। लोग उसकी बातें सुन सुनकर आश्चर्य-चकित हो उठते थे। उसके प्रति स्त्रियों का प्रेम भाव यहाँ तक था कि जिसे घर के काम-काज के कारण गदाले को देखने के लिये जाने का अवसर न मिलता, वह दूसरी स्त्री से कहती

बहिन ! मैं तो आज गदाले के दर्शन को न जा सकी । त
गई थी ? गदाला अच्छा तो था ?

बड़ा होने पर गदाले को पाठशाला भेजा गया । पर लिखने-पढने में उसका मन न लगता था । वह दूसरे लड़कों को भी खेलकूद मे लगाये रखता । रामायण और महाभारत सुनने तथा कृष्ण-लीला देखने का उसे बचपन में ही चस्का लग गया था । स्मरण शक्ति इतनी अच्छी थी कि जो कुछ एक बार सुन लेता उसे कण्ठस्थ हो जाता । जब वह कृष्ण-लीला के मधुर गीत गाता, तो सुननेवाले मस्त हो जाते और बार-बार गीत सुनाने का आग्रह करते । वह कभी कभी कुछ लड़कों को साथ लेकर खेतो में निकल जाता । किसी को सखी बनाता और किसी को राधा, स्वय कृष्ण बनकर खूब लीला मनाता ।

पुरी के तीर्थ का मार्ग कुमार पुरकर ग्राम के पास होकर ही है । वहा जाने-आने वाले यात्री और साधु महात्मा प्राय उनके ग्राम मे आकर ठहरा करते थे । गदाला साधुओं के पास जाता और ध्यान से उनकी बातें सुनता । एक दिन लगोट बाध कर और शरीर पर भभूत लगाकर गदाला घर आया और बोला—'देखो साधुओं ने मुझे कैसा सजाया है, आज मैंने भोजन भी वहा ही किया है ।' साधु भी गदाले से प्रेम करने लगते थे, कभी कभी उसके साथ उसके घर भी आ जाते थे ।

एक दिन एक धनी के घर श्राद्ध के अवसर पर बहुत से ब्राह्मण एकत्रित हुये। दैवयोग से ब्राह्मणों का किसी विषय पर विवाद छिड़ पड़ा और देर तक शास्त्रार्थ होता रहा। गदाला भी मौजूद था, पहले तो वह चुपचाप सुनता रहा, फिर बढ़कर उसने दो तीन ऐसी बातें कहीं कि पंडित मण्डली दंग रह गई और शास्त्रार्थ समाप्त हो गया। इस समय गदाले की आयु १२ वर्ष की थी।

पिता की मृत्यु के पश्चात् गदाला अपने बड़े भाई के साथ कलकत्ते गया, उस समय उसकी अवस्था १६ वर्ष की थी। भाई अपनी पाठशाला में गदाले को पढ़ाना चाहता था, परन्तु गदाला न माना। बोला—'मैं रोटी कमाने वाली विद्या पढ़कर क्या करूँगा। मैं वह विद्या चाहता हूँ जो मेरे अज्ञान को दूर करके मुझे चिर-आनन्द दे सके।

गदाला ग्राम को वापिस लौट गया।

सन् १८५३ में कलकत्ते की प्रसिद्ध और मालदार रानी रासमणि ने गंगा के किनारे दक्षिणेश्वर के स्थान पर एक विशाल मन्दिर काली देवी का निर्मित कराया। उस मंदिर का पुजारी गदाले का बड़ा भाई रामकुमार नियत हुआ था। कुछ काल पश्चात् रामकुमार बिमार हुआ तो रानी के दामाद मथुरानाथ ने रामकुमार की सहमति से गदाले को पुजारी बनाने का प्रस्ताव किया, वह गदाले के भक्ति भाव और मधुर गीतों पर लट्टू हो गया था। जब गदाले के

सामने यह प्रस्ताव रखा गया तो वह नाराज हुआ क्योंकि उसे नौकरी से घृणा थी। भाई ने समझाया 'तुम्हारी स्थिति नौकर की नहीं अपितु स्वतन्त्र होगी। कोई हानी नहीं है, मान जाओ, आखिर गदाला पुजारी बन गया। यह कहना कठिन है कि गदाले की स्वीकृति मे भाई के आग्रह और प्रेम का अधिक प्रभाव था अथवा उसकी दरिद्रता का। इस समय उसकी अवस्था २० वर्ष की हो गई थी। नया पुजारी जगन्माता की पूजा मे रत रहने लगा। थोड़े ही दिन में उसके मन की अवस्था और की और हो गई, जब गीत गाता तो ऐसा लगता कि काली उसमे साक्षात् वर्तमान होकर गीत सुन रही है। कभी पूजा कराते कराते वेसुध होकर घण्टो मस्ती मे पड़ा रहता, कभी धाड़े मार मार कर घण्टो रोया करता और यही पुकारता—'हे माता दया कर, दर्शन दे, धन ऐश्वर्य मुझे नहीं चाहिए, मुझे तो एक मात्र तेरे दर्शन की अभिलाषा है।' सारे दिन जगन्माता के दर्शन की धुन मे ही मस्त रहता, जब दिन छिपता तो कहता—'हे माता और एक दिन बीत गया, किन्तु तुम्हारा दर्शन नहीं मिला।' ऐसा कह कर भूमि पर लोटने और मचलने लगता भगवद्विरह के अन्तस्ताप से उसके शरीर के ऊपर भी असह्य सन्ताप होता, आहार और निद्रा नाम-मात्र को रह गई थी। वह सदा दिव्योन्माद मे मग्न रहता, पूजा करने कराने मे भी असमर्थ हो गया, कभी-कभी बाह्यज्ञान शून्य भी रहने

लगा। इसी समय कुटम्बियो ने यह सोचकर कि शायद विवाह से उसकी यह अवस्था बदल जाये, श्रीमती शारदामणि देवी के साथ उसका विवाह कर दिया, विवाह के समय उसकी अवस्था २२–२३ साल और श्री शारदामणि की अवस्था ६ वर्ष की थी, विवाह के पश्चात वह फिर मदिर में आगया, परन्तु उसकी अवस्था में कुछ भी परिवर्तन न हुआ। पुजारी बनने पर गदाधर रामकृष्ण कहलाने लगा था।

मथुरानाथ ने रामकृष्ण की रानी रासमणि के पास बहुत प्रशंसा की, कहा—'ईश्वर ने हमें बहुत ही अच्छा पुजारी दिया है, वह सच्चा प्रभु प्रेमी है, थोड़े दिनो में ही मंदिर की प्रसिद्धि बहुत बढ जायेगी।' रानी, रामकृष्ण का विशेष सम्मान करने लगी, जब भी मन्दिर मे आती, एक दो गीत जरूर सुनती। एक दिन रामकृष्ण गीत सुना रहा था, उधर रानी का मन एक मुकदमे मे उलझ रहा था जोकि कचहरी में दायर था, रामकृष्ण ने रानी के एक थप्पड़ मारकर कहा—'यहा भी मुकदमे का विचार', लोगो ने सोचा अब रानी नाराज हो जायेगी, परन्तु दूसरे ही क्षण रानी चरणो मे गिरकर क्षमा प्रार्थना करने लगी। रानी और मथुरानाथ रामकृष्ण के और भी श्रद्धालु भक्त बन गये।

उधर रामकृष्ण की भक्ति का रंग भी निरन्तर गाढ़ा होता जाता था, वह काली देवी की पूजा करते-करते ईश्वर के

अद्भुत रूप के दर्शन करने लगा, आरती करने पर शेष ही न होती। कभी-कभी ऐसे लीन होते कि पूजा के पत्र पुष्प अपने ऊपर ही चढ़ा लेते, अब पुजारी बने रहना उसके वश मे न था। मथुरानाथ महापुरुष समझ कर स्वयं रामकृष्ण की सेवा करने लगा, देवी के लिए अन्य पुजारी की व्यवस्था करदी गई।

मथुरानाथ ने वैद्यों से उनके पागलपन का इलाज भी कराना चाहा था। एक वैद्य ने कहा—'यह पागल नहीं कोई बहुत बडा योगी और सिद्ध महापुरुष है। दुनिया भर की चिकित्सा इसे अच्छा नहीं कर सकती।'

श्री रामकृष्णजी कभी-कभी गंगा किनारे जा बैठते—एक हाथ में रुपया और दूसरे मे मिट्टी लेकर पहिले रुपये को सम्बोधन करके कहते—अय रुपये तुझ से चावल सब्जी आदि खरीद सकते हैं। दस आदमियों का पेट भर सकते हैं पर तू सच्चा आनन्द नहीं दे सकता।" फिर मिट्टी से कहते—"तू नाना प्रकार का अनाज और फल-आदि लोगों के खाने के लिये प्रदान कर सकती है परन्तु सच्चा आनन्द प्रदान करना तेरी शक्ति में भी नहीं" फिर बार-बार कहते—

"मिट्टी रुपया, रुपया मिट्टी
मिट्टी रुपया दोनों बराबर"

यह कहते हुये दोनों को गंगा में फेंक देते। अन्तिम दिनों में तो उन्हें रुपये से इतनी घृणा हो गई थी कि यदि

कोई उनके हाथ पर रुपया रख देता तो असह्य वेदना होने लगती थी।

नीच ऊँच के भेद भाव को मिटाने का भी उन्होंने स्तुत्य प्रयत्न किया था। वे झाड़ू लेकर शूद्रों के मकान साफ कर आते। उनकी झूठी पतलें सिर पर उठा कर बाहिर फैंक आते। लोग उन्हें पागल समझते थे परन्तु वे तो प्रभु प्रेम की भूमियाँ जल्दी-जल्दी पार कर रहे थे।

एक बार छ मास तक बेसुध पड़े रहे। एक साधु ने उन्हें पहिचाना कि यह कोई सिद्ध पुरुष प्रभु प्रेम में मस्त पड़ा है। वह यत्न करके थोड़ा-थोड़ा भोजन उनके मुँह में डालता। कभी सोटे मार मार कर ज़रा होश में लाता परन्तु वे फिर बेहोश हो जाते। छ मास पश्चात् उन्हें होश आया। इसी बीच मे एक योग विद्या पारंगत विदुषी ब्राह्मणी उधर आ निकली। उन्हें देखकर उस ब्राह्मणी ने लोगों को समझाया कि यह पागल नहीं, सिद्ध महापुरुष है। कुछ वर्ष तक वह उनके पास रही और योगाभ्यास में सहयोग देती रही।

इसी बीच मे रामकृष्ण की तोतापुरी नामक एक विद्वान् योगी सन्यासी से भेंट हुई। तोतापुरी ने रामकृष्ण की उच्च आध्यात्मिक योग्यता से प्रभावित होकर उन्हें सन्यास की दीक्षा दी। और नियमानुसार योग सिखाया। तीन ही दिन मे ही रामकृष्ण योग क्रिया में पारंगत हो गये। तोतापुरी ने

आश्चर्य चकित होकर कहा—'जो बात मैंने चालीस वर्ष में सीखी वह आपने तीन दिन में जान ली। मैं तुम्हें अपना शिष्य नहीं समझ सकता। तुम तो मेरे गुरु हो।' तोतापुरी तीन दिन से अधिक कहीं न ठहरता था परन्तु रामकृष्ण के पास ग्यारह मास तक ठहरा रहा। दोनों एक दूसरे के सत्संग से कृत्य कृत्य होते रहे। उसी समय से रामकृष्ण 'श्री रामकृष्ण परम हंस' कहलाने लगे।

परमहंस जी ने नवधा भक्ति की साधना की। जैसे राधा, कृष्ण से प्रेम करती थी उसी प्रकार प्रभु प्रेम का अनुभव प्राप्त करने के लिये परमहंस स्त्रियो के वस्त्र पहन कर और स्त्रियो के समान ही बोल-चाल और चेष्टाये करने लगे। ईश्वर इनका प्यारा कृष्ण था और ये उसकी प्यारी राधा। तत्पश्चात् हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की पद्धति से उपासना करने लगे। फिर अन्य मतो अर्थात् इस्लाम, ईसाइयत-आदि में रहकर उनकी पद्धति से उपासना की। परमहंस जी जिस मत की पद्धति का अभ्यास करने का विचार करते थे दैवी प्रेरणा से उस मत का कोई न कोई विद्वान् उनके पास आ जाता था। और तीन दिन मे परमहंस जी उनके अभ्यास मे पारंगत हो जाते थे। परमहंस जी ने बारह वर्ष तक ऐसे परीक्षण किये। इन सब उपायों से वे बारम्बार एक ही परिणाम पर पहुँचते थे। परमहंस जी बताया करते थे कि "एक बार मेरे शरीर मे

भु प्रेम की ऐसी आग लगी कि दिन दिन भर पानी में ख
रहने के बिना मुझे चैन न आता था। एक योग्य ब्राह्म
मेरे पास आई उसने मेरे गले में फूलों के हार डाले औ
शरीर में चन्दन का लेप किया तब मेरा कष्ट दूर हुआ
उसने बताया कि श्री राधाजी और श्री चैतनदेव जी की
ऐसी ही अवस्था हुई थी और इसी दवा से उन्हें भी शान्ति
मिली थी।

'झूठी भूक ने भी मुझे बहुत सताया था। खूब भर पे
भोजन करता, परन्तु तृप्ति न होती थी। उसी योग्य
ब्राह्मणी ने कहा कि और भी बहुत से योगियों की ऐसी ही
अवस्था हुई थी। उसी ने यह इलाज किया कि बहुत सा
भोजन सामने रख देती, इससे थोड़े दिन में झूठी भूख
शान्त होगई।'

'एक बार मैंने गंगा के किनारे एक एकान्त शान्त स्थान
में कुटिया बनाने का विचार किया। उसी समय समुद्र से
गंगा में एक लहर आई और गंगा किनारे बाँस आदि
फेंक गई, मैंने उन्हें ठीक ठाक करके कुटिया बनाली।'

उनमें अन्तिम आयु तक बच्चों का-सा भोलापन पाया
जाता था। लोगो के सामने परमहमजी की धोती खुल
जाती इससे उन्हें कुछ भी चिन्ता न होती थी।

एक बार मस्ती में गिरकर परमहसजी का हाथ टूट
गया। कुछ आदमी कलकत्ते से उन्हें देखने आये। सामने

आने पर स्वामीजी ने पूछा—'कहाँ से आये हो ?' बोले 'कलकत्ते से' कहा 'क्या मन्दिर और बाग देखने आये हो ?' वे बोले—'नहीं, आपके दर्शन करने' इस पर परमहंसजी बालकों की तरह रोने लगे। बोले—'मुझे क्या देखने आये हो, देखो मेरा हाथ टूट गया, मुझे असह्य पीड़ा हो रही है।

उनमें से एक ने कहा—धैर्य रखें। आपका हाथ शीघ्र ही ठीक हो जायेगा।' इस पर परमहंसजी चुप होगये और ख़ुश होकर कहने लगे—'देखो भाइयो यह बाबू कहता है कि मेरा हाथ अच्छा हो जायेगा।'

एक बार उनके एक शिष्य मिलने आये और उनके लिए गोभी का एक फूल लाये। उन दिनों परमहंसजी के पेट में खराबी थी और गोभी खाने की मनाही थी। बच्चों की तरह कहने लगे इस फूल को छिपालो कहीं हृदय नाथ* न देख ले। इतने में हृदय नाथ आगया। उसे देखकर कहने लगे 'हृदय! यह फूल मैंने नहीं मँगाया। ये लोग अपनी मर्ज़ी से ले आये हैं। मुझ पर नाराज़ न होना। मुझसे क़सम ले लो, मैंने इच्छा न की थी।'

एक बार कुछ शिष्य रात को उनकी कुटिया में ठहरे हुए थे, सब सो रहे थे। आधी रात को गंगा में लहर आई। लहर की आवाज़ सुनकर वे उठ खड़े हुए और

* हृदय नाथ परमहंसजी का भानजा था। उन दिनों सेवा सुश्रुषा के लिए पास रहता था।

शिष्यों से बोले चलो देखो गंगा में लहर आई है । और नंगे ही बाहिर निकल गये । शिष्यों को कपड़े पहिनने में देर लग गई । जब पहुँचे तो लहर उतर गई थी, परन्तु परमहंसजी मारे खुशी के नाच रहे थे। शिष्यों को देख कर बोले तुम इतनी देर कहाँ रहे ? लहर तो उतर गई । उन्होंने कहा कपड़े पहिन रहे थे । परमहंसजी बच्चों की समान सहज स्वभाव में बोले—'दूर, तुम कपड़े पहिनने में देर करोगे तो क्या लहर नहीं रहेगी ।'

एक बार एक ग्रेज्युएट उनके पास आया और कहने लगा आप पागलों कीसी बातें करते हैं, प्रतीत होता है कि तुम्हारे मस्तिष्क में खराबी है । परमहंसजी कुछ जवाब दिये बिना ही काली के मन्दिर में चले गये और थोड़ा देर में वापिस आकर कहने लगे—'माँ कहती है मैं ठीक हूँ। आपकी समझ का कसूर है।' उस पर परमहंसजी के शब्दों का बड़ा प्रभाव हुआ और वह उसी समय सन्यासी बन गया ।

एक बार जगन्माता के सामने खड़े होकर प्यार से बोले—'माँ तूने मुझे पागल क्यों बनाया ?' माँ बोली—'यह कूड़े का ढेर देखते हो, इसी का नाम दुनियाँ की दानाई है, क्या यह लेना चाहते हो ?' कहने लगे—'नहीं, मैं पागल ही अच्छा हूँ ।'

बाबू मथुरानाथ के साथ स्वामीजी ने बनारस और

मथुरा वृन्दावन की यात्रा भी की थी और वहाँ के बड़े बड़े साधुओं तथा बनारस के तैलगस्वामी, वृन्दावन की गगा माता, से भेंट भी की थी। वहाँ परमहसजी ने इतना दान किया कि मथुरानाथजी का अस्सी हजार रुपया खर्च हो गया।

लौटती बार एक ग्राम में से गुजर रहे थे। अकाल के मारे लोग भूखों मर रहे थे। उन्हें देखकर परमहसजी मथुरा नाथ से बोले—'जब तक ये लोग सन्तुष्ट न होंगे मैं यहाँ से आगे न बढ़ूँगा।' मथुरा नाथ कई दिन तक वहाँ ठहर कर भोजन वस्त्र और रुपये बाँटते रहे।

एक बार मथुरानाथ ने कहा—'स्वामीजी! आज्ञा हो तो पचास हजार के परामेसरी नोट आपके नाम पर खरीद लूं।' आप न माने। मथुरा नाथ ने कहा—'नफा हम खुद ही ले आया करेंगे। आपको कष्ट न होगा और रुपये को हाथ भी न लगाना पड़ेगा।' बोले—'बाबा तुम सच कहते हो, पर यह दाग तो दिल में लग ही जायेगा कि मेरा इतना रुपया है।'

मथुरानाथ चुप रह गया।

परमहंसजी की माताजी एक बार उनके पास गंगा-किनारे आई हुई थीं। मथुरानाथ ने जो कि परमहंसजी के सब सम्बन्धियों को सन्तुष्ट रखना चाहता था, माताजी की सेवा में पच्चीस हजार रुपये पेश किये। माताजी ने

लेने से साफ इन्कार कर दिया। मथुरा बाबू ने बहुत आग्रह किया, 'कम से कम कुछ तो लो' माताजी ने कहा, 'इसमें से एक पैसे की [illegible] ला दो।'

मथुरानाथ दंग रह गया। अनायास उसके मुंह से निकला—माता धन्य है, निस्सन्देह ऐसी माता का ही ऐसा पुत्र होता है।

एक बार एक और शिष्य ने कहा—'स्वामीजी आपको आने जाने में बड़ी तंगी रहती है, इसलिये मैंने अपने मकानों की आय का कुछ अंश आपके नाम कर देने का विचार किया है।' कहने लगे—'नहीं, हमें कोई तंगी नहीं।' उसने और आग्रह किया। तो बिगड़कर बोले—'माँ, तू ऐसे आदमी क्यों आने देती है, जो ऐसी बातें सुनाकर तंग करते हैं' इस पर वह शिष्य चरणों में गिरकर क्षमा याचना करने लगा।

एक बार मथुरानाथ ने पच्चीस हजार रुपये वार्षिक की जागीर इन्हें देनी चाही। परन्तु इन्होंने इन्कार कर दिया और कहा कि अधिक तंग करोगे तो मैं अन्यत्र कहीं चला जाऊँगा।

परमहंसजी जीवन पर्यन्त किसी स्त्री के पास न गये। और न ही इन्हें कभी इस बात का विचार आया। वे स्त्री मात्र को माता समझते थे। एक बार मथुरानाथ ने एक वेश्या को कहकर एक मकान में कुछ स्त्रियाँ एकत्रित कीं और

परमहंसजी को उस कमरे में दाखिल कर दिया। परमहंसजी उन्हें देखते ही माँ, माँ पुकारने लगे और उनकी चरणवन्दना करते करते बेसुध हो गये। वे नारी वेश्यायें घबरा गईं। कोई उन्हें पखा करने लगी और कोई सुगन्ध सुँघाने। मथुरानाथ बेचारे बहुत लज्जित हुए।

उनकी धर्म पत्नी को जब पतिदेव के पागलपन का हाल मालूम हुआ तो वह बहुत दुखी रहने लगी। पुनः जब उसने सुना कि उसका पति एक आदर्श ईश्वर-भक्त है, तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। अब उसकी आयु १७ वर्ष की हो चुकी थी। माता-पिता की आज्ञा लेकर वह परमहंसजी के दर्शनों को आई और कहने लगी, 'मैं आपकी धर्म पत्नी हूँ।'

परमहंसजी बोले—'जिस रामकृष्ण से तुम्हारा विवाह हुआ था, वह तो मर चुका। यह रामकृष्ण तो तुम्हारा पुत्र है' और माँ माँ कहते हुए उसके चरणों पर सिर रख दिया।

वह बोली—मैं और कुछ नहीं माँगती, सिवा इसके कि आप मुझे भी सन्मार्ग बताओ और यहाँ रहने दो। जिससे मैं आपकी सेवा कर सकूँ।' परमहंसजी मान गये।

मथुरानाथ ने उसे दस हजार रुपये देने चाहे, उसने न लिये और कहा—'मेरे पति ने अर्थ त्याग करके इतना कुछ पाया है, मैं भी उन्हीं के च[illegible] पर चलूँगी इस प्रकार वह एक प्रभु भक्त देवी [illegible] परमहंसजी के

परलोक गमन के पश्चात् उसने बड़ी ख्याति पाई। अमेरिका से एक देवी मिसेज येल उसके दर्शनार्थ आई थी और उनके वार्तालाप से बहुत सन्तुष्ट हुई थी।

जब कोई परमहंसजी से मिलने आता तो वे उसे प्रथम नमस्कार करते और जब किसी साधु महात्मा का समाचार पाते तो उससे मिलने जाते। जब वे बनारस में थे तो उन्होंने एक साधु के बीन बजाने की बहुत प्रशंसा सुनी और बीन सुनने की इच्छा प्रगट की। मथुरानाथ ने उस साधु को बुलाया, परन्तु वह न आया। इस पर परमहंस जी स्वयं उस साधु के स्थान पर गये। उसने यथोचित स्वागत सत्कार किया और बीन सुनाई। बीन सुनकर वे बहुत सन्तुष्ट हुए।

विभिन्न मतों के विद्वान् और जन साधारण परमहंस-जी की सेवा में उत्साहपूर्वक आते और उपदेशामृत का पान करके कृत्य कृत्य होते रहते थे। सवेरे से रात गये तक भक्त उन्हें घेर ही रहते थे। खाने पीने का भी अवकाश न मिलता था।

बड़े बड़े विद्वान इस अनपढ़ सन्त की सेवा में बैठकर ज्ञान लाभ करते थे। कोई उनके भोलेपन पर लट्टू था तो कोई प्रभु प्रेम पर, कोई निस्वार्थ भाव का प्रशंसक था तो कोई गम्भीर तत्त्वबोध का, सभी उन्हें अपना गुरु मानते थे।

सन् १८६६ में ब्रह्म-समाज के प्रसिद्ध नेता श्री केशवचन्द्र सेन दक्षिणेश्वर के समीप अपने बगीचे में कुछ दिन एकान्तवास करने के लिये आये। जब परमहंसजी ने यह सुना तो उनसे मिलने गये। परमहंसजी की बातों का उन पर बहुत प्रभाव हुआ और वह परमहंसजी को अपना गुरु मानने लगा। श्री केशवचन्द्रजी ने परमहंसजी के विषय में एक संक्षिप्त सी पुस्तक भी लिखकर प्रकाशित की थी। इससे शिक्षित जनता में परमहंसजी का सन्मान बहुत बढ़ गया था।

परमहंसजी को वेदान्त की शिक्षा के अनुसार ब्रह्म और मनुष्य का विचित्र सम्मिश्रण कहा जा सकता है। साधारणतया तो वे अपने आपको सबका दास ही कहते थे, परन्तु जब वे ब्रह्म भाव में होते तो कहते, 'मैं सर्वज्ञ हूँ, मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ' मैं राम हूँ, कृष्ण हूँ, बुद्ध हूँ, ईसा हूँ।

यूँ तो परमहंस जी के सहस्रों शिष्य हुये परन्तु स्वामी विवेकानन्द जी का उनमें प्रमुख स्थान है जिन्होंने अमेरिका, इग्लैण्ड-आदि विदेशों में भी परमहंस जी के मिशन का सफलतापूर्वक प्रचार करके दुनिया को हिला दिया।

अधिक बोलने के कारण परमहंस जी के हल्क में घाव हो गया था। योग्य योग्य डाक्टरों से इलाज कराया गया। डाक्टरों का कहना था कि परमहंस जी कुछ दिन बोलना बन्द करें। परन्तु परमहंस जी कब मानने वाले थे।

ज्यों ही कोई जिज्ञासु सामने आया और आपने बोलना शुरू किया। लोग आपका एक-एक शब्द सुनने को लालायित रहते थे। हलक का घाव बढ़ता ही गया भोजन भी गले से उतरना बन्द हो गया, परन्तु वह दिव्य सन्त बोलता ही रहा। १६ अगस्त सन् १८८६ ई० को उन्होंने समाधि लगाई और फिर न खोली। डाक्टरों ने देखा तो पक्षी पिंजरा तोड़ कर स्वतन्त्र हो चुका था।

स्वामी विवेकानन्द जी ने लिखा है—"जब मैंने परमहंस जी की प्रसिद्धि सुनी, तो मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ मैंने देखा कि वह एक साधारण मनुष्य हैं, कोई प्रकट विशेषता उसमें नहीं। मैंने सोचा क्या यह महान् धर्मोपदेशक हो सकता है ? मैंने समीप जाकर उनसे एक प्रश्न पूछा। प्रत्येक विद्वान् से मैं यही प्रश्न पूछा करता था कि क्या आपको ईश्वर के अस्तित्व पर पूर्ण विश्वास है ? उन्होंने कहा—'हाँ'। मैंने कहा—'क्या आप सिद्ध कर सकते हैं ?' वे बोले—'हाँ'। इस पर मैंने कहा—'कैसे' कहने लगे 'मैं ईश्वर को ऐसे ही देख रहा हूँ जसे आपको, बल्कि इससे भी अच्छी तरह।'

मेरे दिल पर उनके इस स्वाभाविक कथन का विशेष प्रभाव हुआ। क्योंकि यही पहिला व्यक्ति था जिसने कहा कि वह ईश्वर को इस दृश्य जगत् से भी अच्छी तरह देखता है। मैं नित्य प्रति उनकी सेवा में जाने लगा। और

मैंने वास्तव में समझ लिया, कि वास्तव में धर्म एक सार वान वस्तु है। जो किसी को दी जा सकती है। धर्म से मेरा अभिप्राय ब्रह्मज्ञान से है। कृपा करके गुरु ने मेरी अवस्था को सवथा बदल दिया।

मैं वर्षों अपने गुरु के साथ रहा, परन्तु मैंने कभी नहीं देखा कि किसी मत या मजहब के लिये उन्होंने कभी निन्दा-सूचक शब्दों का प्रयोग किया हो। उनकी सब के साथ समान सहानुभूति थी। उन्होंने नाना मतों में विद्यमान समानता को अनुभव कर लिया था और वे समझते थे कि अवश्य ही एक दिन सब मजहब एक हो जायेंगे।

अन्तिम बिमारी के दिनों में एक आदमी ने पूछा—'आप तो बड़े योगी हैं। मनोबल-द्वारा स्वास्थ्य लाभ क्यों नहीं कर लेते ? पहिले तो परमहंसजी चुप रहे, परन्तु उसके बार-बार पूछने पर बोले—'मैं समझता था तुम बड़े समझदार हो, परन्तु तुम तो साधारण मनुष्यों की सी बातें करते हो। सुनो, मैं अपना मन ईश्वरार्पण कर चुका हूँ, क्या तुम चाहते हो मैं मन को ईश्वर से हटाकर शरीर की ओर लगा दूँ, जोकि आत्मा के लिये पिंजरे के समान है ?'



विवेकानन्द

श्री स्वामी विवेकानन्द जी महाराज आधुनिक युग के 'मानव धर्म' प्रचारकों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। ये उन, कतिपय भारतीय विद्वानों में से एक हैं जिन्होने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पाई तथा अपने तत्व ज्ञान, वाग्वैभव और ठोस तथा सात्विक साहित्य निर्माण द्वारा, दीन, हीन, पराधीन एव नाना प्रकार की रूढियों और मत मतान्तरों के अभिशाप से सन्त्रस्त भारत वसुन्धरा और हिन्दू धर्म का विज्ञान प्रेमी तथा उन्नत समझे जाने वाले पाश्चात्यों के सम्मुख सिर ऊँचा कर दिखाया तथा घोर भौतिकवादियों को भी उस भारतीय संस्कृति और अध्यात्मवाद की सब सुन्दर और मनोरम झाँकी दिखा कर स्ववशानुवर्ती कर लिया।

जब भारत सन्तान अपने गौरवपूर्ण अतीत को विस्मृत कर चुकी थी, भविष्य की ओर से गाफिल हो रही थी। अपना इतिहास, धर्म, संस्कृति, भाषा और वेश, सभी कुछ बिसार कर अथवा अज्ञानवश हेय जान कर पाश्चात्य

आदर्शों के पीछे पागल हो रही थी, यह विवेकानन्द का ही महान् व्यक्तित्व था, जिसने उसके सदासद् विवेक को जागृत किया, सन्मार्ग सुझाया और अविद्या अन्धकार के गहरे गर्त मे गिरने से बचाया। शिक्षित और अर्ध-शिक्षित समुदाय पर उनकी शिक्षाओ का बहुत ही सुन्दर प्रभाव हुआ था।

भारत की आधुनिक जागृति और स्वतन्त्रता सग्राम के इतिहास मे एक युग ऐसा भी आ चुका है जबकि सुधारक और स्वदेश भक्त कार्यकर्ताओ के लिये स्वामी विवेकानन्द जी की शिक्षा 'शक्ति स्रोत' और 'ज्योति स्तम्भ' का काम देती रही है। वे स्वामी जी के ही उपदेश थे जिनको हृदयंगम करके भारतीय क्रान्तिकारियो के दिलों से मृत्यु का भय आश्चर्यजनक रूप में हट गया था। उनमें अद्भुत शक्ति और साहस का सचार हुआ था तथा भारत वीरों ने आत्म त्याग और बलिदान के अनेक भव्य चमत्कार ससार के सामने प्रस्तुत किये थे। स्वामी जी के उपदेश, जेल जीवन मे स्वदेश भक्तो के साहस, मानसिक सन्तुलन और क्रिया शक्ति को स्थिर रखते थे तथा आवश्यकतानुसार प्रसन्नतापूर्वक फाँसी की रस्सी को चूमने और अपने हाथों विष पान व गोली द्वारा ऐहिक लीला सवरण करने के लिये तैयार कर देते थे।

यद्यपि स्वामी जी ने अपना सारा जीवन एक

धर्म प्रचारक और महान् सन्यासी के रूप में व्यतीत किया, वे कभी क्रियात्मक राजनीति के क्षेत्र में नहीं आये। परन्तु अपने कार्यों से देश में जीवन, ज्योति और जागृति फैला कर परोक्ष रूप से वे राजनीतिक आन्दोलन को सदा पुष्ट करते रहे।

स्वामी जी का जन्म १६ जनवरी सन् १८६२ ई० को बङ्गाल प्रान्तान्तर्गत सिमूलिया नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री विश्वनाथदत्त कलकत्ता हाईकोर्ट के एटर्नी थे। उनके तीन पुत्र थे। बड़े नरेन्द्र, मँझले महेन्द्र और छोटे भूपेन्द्र। नरेन्द्र ही आगे चल कर स्वामी विवेकानन्द के रूप में संसार के सामने आये।

नरेन्द्र उदात्त विचार और प्रखर बुद्धि का होनहार, सहृदय बालक था। कुटिलता, स्वार्थपरता, और आलस्य आदि दुर्गुण उसके पास भी न फटकते थे। एक बार अध्यापक जिस विषय को पढ़ा देते, वह उसे कभी न भूलता।

सन् १८६६ में पिता ने इसे अँग्रेजी पढने के लिये मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूशन में भर्ती कराया। अपनी अद्भुत प्रतिभा से अल्पकाल में ही नरेन्द्र ने सभी अध्यापकों को चकित कर दिया। कक्षा में वह सर्व-प्रथम रहा करता था।

पिताजी इन दिनों लाहौर में थे और बालक नरेन्द्र उनके एक मित्र की संरक्षता मे रहता था। वे देखते कि

नरेन्द्र का अधिकाश समय खेल कूद में ही व्यतीत होता है। अवश्य ही यह अपनी श्रेणी में कमजोर रहता होगा। एक दिन पास बुला कर बोले—नरेन्द्र, मैं तो तुम्हें हर समय खेल कूद में ही मस्त देखता हूँ। कभी लिखते-पढते भी हो? नरेन्द्र बोला मैं पढता भी हूँ। और खेलता भी हूँ मेरा प्रात काल का समय प्रति दिन लिखने पढने में ही व्यतीत होता है। परीक्षा ली गई और नरेन्द्र ने सभी प्रश्नों के उत्तर ठीक ठीक दिये। १८७७ में नरेन्द्र अपने पिता के साथ रायेपुर (सी० पी०) गया और दो वर्ष तक वहीं रहा। पुन १८७९ मे कलकत्ते आकर मेट्रोपोलिटन स्कूल मे पढने लगा। इस वप उसने एन्ट्रेंस परीक्षा पास की। स्कूल के विद्यार्थियों में वह सर्व प्रथम रहा।

अब उसने प्रेसिडेंसी कालिज में नाम लिखाया, परन्तु कुछ समय पश्चात वह इस कालेज को छोड कर जनरल एसेम्बलीज इन्स्टीट्यूशन मे भर्ती हो गया। इसी कालेज से उसने २० वर्ष की आयु में एफ० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। तत्पश्चात बी० ए० की तयारी करने लगा। इसी बीच मे उसका मन यह जानने के लिए व्यग्र हो उठा कि ससार का कौन-सा धर्म सत्य है। धर्म के पवित्र सिंहासन पर पाप पाखण्ड और दम्भ को विराजमान देखकर उसे धर्ममात्र से अरुचि होने लगी। लोग कहते थे यह लडका शीघ्र ही नास्तिक हो जायेगा। बिचारे क्या जानते थे कि यही

अर्धनास्तिक किसी दिन परमास्तिक बन कर बहुत से नास्तिकों के अन्तःकरण में व्याप्त घोर अविद्या अन्धकार की कालिमा को छिन्न भिन्न करके आस्तिक भाव की उज्वल ज्योति प्रज्वलित करेगा। जिज्ञासु नरेन्द्र अनेक धर्माचार्यों के पास जाता, परन्तु कहीं से भी सन्तोष प्रद उत्तर नहीं मिलता था। एक पादरी साहेब कालेज में अध्यापक थे। नरेन्द्र ने कई दिन तक उनसे विचार विनिमय किया, परन्तु धर्म पिपासा शान्त न हुई। ब्रह्म समाज का आश्रय लिया। समाधान न हुआ।

अब नास्तिकपन बढ़ने लगा। पिता श्री विश्वनाथ दत्त हिन्दू धर्म के परम श्रद्धालु थे। पुत्र के नास्तिक भावों से उन्हें बहुत खेद हुआ और वे चिन्तित रहने लगे। श्री विश्वनाथदत्त के एक मित्र श्री रामचन्द्रदत्त श्री स्वमी राम कृष्ण परम हंस के शिष्य थे। नरेन्द्र के विचारों का समाचार पाकर उन्हें बड़ा खेद हुआ। आखिर वे एक दिन नरेन्द्र को उसकी धर्म पिपासा शांत कराने के लिये श्री रामकृष्ण परम हंस के पास ले गये।

नरेन्द्र ने श्रद्धा सहित प्रणाम किया। दत्त महाशय ने परिचय दिया — "स्वामिन! यह मेरे मित्र का पुत्र है। इसकी धर्म पिपासा को शान्त कीजिये। कई जगह घूम आया है कहीं शान्ति नहीं मिली। आज से आप इसे अपना सेवक जानें और नास्तिकपन से इसकी रक्षा करें।"

नरेन्द्र को पास बैठाते हुये श्री परम हंस ने कहा क्या तुम मुझे एक अच्छा-सा भजन सुना सकते हो ? नरेन्द्र ने बात मान ली और दो भजन गाकर सुनाये। इतने में स्वामी परम हंसजी ने निश्चय कर लिया। 'यह होनहार बालक है। नास्तिक नहीं बन सकता। सच्चे पथ प्रदर्शन के अभाव में इसके विचारोंमे कुछ उच्छृखलता आगई है।

पहिले ही दिन नरेन्द्र को परमहंसजी के प्रति बड़ी श्रद्धा होगई। वह नित्यप्रति उनके पास आने और उपदेशामृत से लाभ उठाने लगा। स्वल्पकाल में ही सारे संशय दूर होगये।

इसी वर्ष नरेन्द्र ने बी० ए० पास किया। तदुपरान्त वह कानून पढने लगा। दुर्भाग्यवश इसी साल पिता का स्वर्गवास हो गया। गृहस्थी का सारा भार नरेन्द्र के सिर आ पड़ा। अनेक विध कठिनाइयाँ पड़ने लगीं। पितृ-वियोग से उन्हें बड़ा आघात पहुचा। ससार से जी उचट गया। मन अब किसी कार्य मे लगता न था। एक दिन श्री परम हंस के पास जाकर नरेन्द्र ने कहा—'महाराज! मेरा मन संसार से उचाट हो गया है, चित्त में अशान्ति बनी ही रहती है। मुझे योग सिखाइये। सम्भव है उससे कुछ शांति मिले।' महाराज ने उत्तर दिया—'चिन्ता की कोई बात नहीं। वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का अध्ययन और धैर्य धारण करो। विक्षिप्त होना बुद्धिमानों का काम

नहीं।' कुछ योग-साधन की रीति भी बताई। नरेन्द्र धर्मग्रंथो के अध्ययन और योग साधन मे संलग्न रहने लगा।

नरेन्द्र के विरक्त भाव को देखकर माता को बडी चिन्ता हुई। वह डरी कि कहीं यह सन्यासी न हो जाये। अत उसने सोचा कि इसे किसी प्रकार झटपट विवाह बन्धन मे बाँध दिया जाये। नरेन्द्र को पता लगा तो उसने विवाह कराने स स्पष्ट इन्कार कर दिया। लोगो ने बहुत समझाया पर वह किसी प्रकार भी विवाह कराने को सहमत न हुआ।

माता को विवाह की तैयारियाँ करती हुई देख कर नरेन्द्र परमहसजी के पास पहु चा और अपना जीवन व्रत तथा भावी कार्यक्रम बताकर सन्यास ग्रहण की अनुमति माँगी। परमहसजी ने नरेन्द्र को प्रार्थना स्वीकार करली। शीघ्र ही नरेन्द्र विवेकानन्द सन्यासी बन गया। जिसे कहीं शान्ति न मिलती थी उसे अपने हिन्दू धर्म मे ही शान्ति मिल गई।

१६ अगस्त १८८६ को स्वामी रामकृष्ण परमहस का स्वर्गवास हो गया। गुरु वियोग से स्वामी विवेकानन्दजी को बडा दु ख हुआ, परन्तु ये गुरु के सत्सग से पर्याप्त लाभ उठा और ससार की वास्तविकता को समझ चुके थे, शीघ्र ही स्वस्थ चित्त होकर योग साधन और देश-

भ्रमण के लिये निकल पड़े। हिमालय प्रदेश में रहकर प्राय. दो वर्ष तक योग-साधन करते रहे। फिर बौद्धमत के अध्ययन के लिए तिब्बत गये। लौटते हुए राजपूताने पहुँचे और कुछ दिन विश्राम करने के लिये आबू पहाड़ पर ठहरे। नित्य-प्रति बहुत से मनुष्य दर्शन तथा उपदेश ग्रहणार्थ आया करते थे।

एक दिन महाराजा खेतडी के कर्मचारी श्री जगमोहन लाल बी० ए० भी आए। वापिस जाकर उसने महाराजा खेतडी से स्वामीजी के पाण्डित्य और साधुभाव की बहुत प्रसशा की। इस पर स्वामीजी के दर्शन की महाराजाजी की प्रबल इच्छा हुई। दूसरे दिन जगमोहन ने महाराज की इच्छा स्वामीजी के सामने प्रकट की। यह सुनकर स्वामीजी स्वय महाराजा के स्थान पर पधारे। महाराजा ने उनका यथोचित आदर सत्कार किया।

महाराजा गुणग्राही, साधुसेवीऔर विद्वान सज्जन थे। सच्चा साधु ही उनके यहाँ सन्मान पा सकता था। महाराजा साहब की इच्छा स्वामीजी के पाँडित्य की थाह लेने की हुई। यथोचितसत्कार के पश्चात् महाराजा ने पूछा—
Swamiji ! what is life ?

अर्थात् स्वामीजी ! जीवन क्या है ? स्वामीजीने तुरन्त उत्तर दिया।

Life is the tendency of unfolding and

development of a being under circumstances tending to press it down अर्थात् किसी व्यक्ति के निज स्वरूप प्रकाश करने पर जो शक्तियाँ उसे दबाकर रखने की चेष्टा करती हैं, उन प्रतिद्वन्दी शक्तियों को परास्त करके निज शक्ति प्रकाश करने की अविरत शक्ति का नाम ही जीवन है। और भी अनेकश: प्रश्न उत्तर होते रहे।

महाराज मन्त्र मुग्ध से हो गये। अब व किसी प्रकार भी स्वामीजी को छोड़ना न चाहते थे। स्वामीजी ने वहाँ से शीघ्र ही विदा होने का बहुत यत्न किया, परन्तु भक्त महाराजा के श्रद्धापूर्ण आग्रह के आगे सभी यत्न विफल होते रहे। प्राय दो मास खेतड़ी रहकर जब स्वामीजी विदा होने लगे तो महाराजाजी ने कहा—"मैं सन्तान रहित हूँ" स्वामीजी ने उन्हें सन्तानवान होने का आशीर्वाद दिया। दो वर्ष पश्चात् प्रभु की कृपा से महाराजाजी के घर पुत्र रत्न का जन्म हुआ।

अब तो महाराज स्वामी जी को पूर्ण सिद्ध मानने लगे। पुत्र जन्मोत्सव मनाने की तैयारियां होने लगीं। स्वामी जी के शामिल होने में ही उत्सव की पूर्ण सफलता थी। जगमोहनजी स्वामी जी को लाने के लिए भेजे गये। बड़ी कठिनता से पता लगाकर जगमोहन स्वामी जी के पास मद्रास पहुँचे। स्वामी जी उन दिनों अमेरिका जाने

तैयारियां कर रहे थे। बोले—'मैं महाराज का आदेश पालन करने की स्थिति में नहीं हूँ।' जगमोहन ने विश्वास दिलाया कि महाराजाजी स्वयं ही अमेरिका जाने का सब प्रबन्ध कर देंगे। इस पर स्वामी जी खेतड़ी पधारे और महाराज कुमार के जन्मोत्सव में सम्मिलित हुवे। कुछ दिन खेतड़ी रह कर स्वामी जी ने अमेरिका जाने की इच्छा प्रकट की। महाराजा जी ने यात्रा का समुचित प्रबन्ध करा दिया और स्वयं उन्हें जयपुर तक पहुँचाने आये, जगमोहनजी बम्बई तक स्वामी जी के साथ गये थे।

सन् १८९३ में अमेरिका के शिकागो नगर में (रिलीजस पार्लिमेन्ट) सर्व-धर्म सम्मेलन होने वाला था। जिसमें हिंदू धर्म को छोड़ कर शेष सब धर्मों के प्रतिनिधि बुलाये गये थे। सम्मेलन के सभापति थे 'रेवेरेण्ड डा० ब्यूरो' साहब। आप की समझ में हिन्दू असभ्य और मूर्ख थे। अतः उन्होंने हिन्दू धर्म को आमन्त्रित करना उचित न समझा था।

कुछ भारतीयों को यह बात बुरी तरह खटकी। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी को हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधि बनाकर अमेरिका भेजने की इच्छा प्रकट की। स्वामी जी सहमत हो गये, उनकी अमेरिका यात्रा का यही उद्देश्य था।

स्वामी जी चीन, जापान होते हुवे अमेरिका गये थे। मार्ग में उनका जहाज कोलम्बो, सिंगापुर, हांगकांग, याको-

हागा आदि कई स्थानों में ठहरा। सभी स्थानों में उन्होंने प्रसिद्ध स्थानों का निरीक्षण किया और उनके विषय में अपने विचार भी लिखे। चीन को वे एक होनहार देश कहा करते थे, जब वे चीन पहुँचे तो एक बौद्ध मठ देखने गये, दुभाषिया साथ था। उसने बताया विदेशियों के लिये मठ में जाने की आज्ञा नहीं है और रोकने का यत्न किया। पर, स्वामी जी न माने। ज्यों ही दुभाषिया और स्वामी जी मठ में प्रविष्ट हुवे, मठवासी तेजी से उन्हें मारने पीटने को लपके। दुभाषिया भागने लगा, पर स्वामी जी ने उसे पकड़ लिया और कहा—'तुम भले ही भाग जाना परन्तु यह बताते जाओ कि चीनी भाषा में योगी को क्या कहते हैं। उसके बतलाने पर स्वामी जी ने चिल्ला कर कहा—'मैं एक भारतीय योगी हूँ' इस वाक्य का उन लोगों पर जादू के समान प्रभाव हुआ और वे स्वामी जी के चरणों पर आ गिरे तथा अपनी भाषा में कुछ कहने लगे। वे उनकी भाषा तो न समझ सके पर एक शब्द उनकी समझ में आगया और वह था 'कवच'। स्वामी जी ने दूर खड़े दुभाषिये से पूछा—'ये क्या चाहते हैं?' उसने कहा—'दुष्ट आत्माओं को दूर भगाने के लिये 'कवच' माँग रहे हैं।' स्वामीजी ने तुरन्त एक कागज पर ओ३म् लिख कर उन्हें दे दिया। कवच को पाकर वे बड़े प्रसन्न हुवे स्वामीजी को मठ में ले गये।

जापान के विषय में स्वामीजी ने अपने संस्मरण विस्तारपूर्वक लिखे हैं और जापानी नागरिको तथा वहाँ के उस समय के रीति-रिवाज और कला कौशल तथा निवासियो की उन्होंने बहुत प्रशंसा की है।

शिकागो मे उतरते ही लोगों ने चारों ओर से आ घेरा। इनके भगवे वस्त्र अमेरिकनो के लिये एक अद्भुत दृश्य था। सभी उनसे तरह तरह के प्रश्न करने लगे। स्वामीजी ने सबको यथोचित उत्तर दिये। उन लोगों में कुछ सुशिक्षित सज्जन भी थे। उन्होने स्वामीजी की योग्यता को पहिचाना। सदुद्देश्य को जान कर प्रसन्नता प्रगट की। और ठहरने आदि की भी समुचित व्यवस्था करा दी।

उन्हीं सज्जनों ने दूसरे दिन प्रयत्न करके सम्मेलन के सभापति महोदय से सभा में उपस्थित होने का निमन्त्रण भी स्वामीजी को भिजवा दिया।

'सम्मेलन की कार्यवाही ११ सितम्बर सन् १८८३ को आरम्भ हुई और २७ सितम्बर तक (१७ दिन तक) होती रही। सम्मेलन की विभिन्न बैठको में स्वामीजी के कई भाषण हुये, जिनका अमेरिकन लोगो पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जो लोग कुछ समय पूर्व उनकी वेश-भूषा को देखकर हंस रहे थे, वे भी स्वामीजी की अगाध विद्वता और वक्तव्य शक्ति का लोहा मान गये। स्वामीजी के भाषण

सुनने के, लिये श्रोताओ की संख्या दिनो दिन बढ़ती ही जाती थी। स्वामीजी के उन ऐतिहासिक भाषणों को ज्यू का त्यूं यहाँ देना शक्य नहीं, केवल कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं। प्रथम दिवस की बैठक मे बोलते हुये स्वामीजी ने कहा—

"अमेरिकावासी बहिनो और भाइयो! आप लोगो के हार्दिक स्वागत के उत्तर मे प्रति कथन निमित्त उठने से आज मेरा हृदय अकथनीय हर्ष से पूर्ण हो रहा है। जगत के अत्यन्त प्राचीन सन्यासी समाज का मुख्य स्वरूप होकर मैं आज आप लोगों को साधुवाद देता हूँ। सब धर्मों का आदि श्रोत जो सनातन हिन्दू धर्म है, मैं उसका प्रतिनिधि होकर आप लोगों को धन्यवाद देता हूँ।

मेरा धन्यवाद उन सुवक्ताओं को भी स्वीकृत हो जिन्होंने इस सभा मण्डप मे प्राय. प्रतिनिधियो को लक्ष करके यह मन्तव्य प्रकाशित किया है कि दूर देश निवासी जातियों मे से जो लोग आज यहाँ उपस्थित हैं, वे भी समदर्शन के भाव की सर्वत्र घोषणा करके यश एव गौरव को प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं। मुझको ऐसा धर्मावलम्बी होने का गौरव है, जिसमें समदर्शन और सकल धर्ममत के ग्रहण की शिक्षा चिरकाल से है। हम लोग समस्त जगत मे केवल समदर्शन ही नहीं मानते, किन्तु समस्त मतों को सत्य कह कर विश्वास करते हैं। मैं अभिमानपूर्वक आप

से निवेदन करता हूँ कि मैं ऐसे धर्म का अनुयायी हूँ, जिसकी पवित्र भाषा अर्थात् संस्कृत मे, 'अंग्रेजी' शब्द Exclusion (जिसका अर्थ हेय वा त्याज्य हो सकता है) का पर्याय वाची कोई शब्द है हो नहीं। मुझे इस बात का अभिमान है कि मेरा ऐसी जाति से सम्बन्ध है, जिसने इस जगत की समस्त पीडित एव शरणागत अन्यान्य जातियों और मतावलम्बियों को आश्रय दिया है। मैं अभिमान पूर्वक आप लोगो से निवेदन करता हूँ कि जिस समय रोमन जाति के अत्याचार से यहूदी जाति के पवित्र देव मन्दिर तोडे गये, उस समय शुद्ध इसरेलाइट जाति के कुछ लोगो को जो दक्षिण भारत में भाग आये थे, हम लोगो ने अपनी छाती से लगाकर रखा था। मुझे ऐसे धर्म मे उत्पन्न होने का अभिमान है, जिसने पारसी जाति की रक्षा की और उसका पालन अब तक कर रहा है। मैं आप लोगो को एक स्तोत्र का एक श्लोक सुनाता हूँ, जिसका मैं अपनी बाल्य अवस्था में पाठ करता रहा हूँ और जिसको अब तक लाखो मनुष्य प्रति दिन गाया करते हैं—

रुचीनां वैचित्र्यादृजु, कुटिलानां पथ जुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

शिव महिम्नी

जैसे नदियाँ विभिन्न स्रोतो से निकल कर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! नाना मतों के लोग,

वे यद्यपि भिन्न प्रतीत होते हैं, वे टेढ़े हों या सीधे, पर तेरी ही ओर जाते हैं।

यह सभा जो जगत की सब से महती और बड़ी सभाओं में से है, सारे जगत में गीता के इस उपदेश की घोषणा व प्रचार कर रही है कि—

ये यथामां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्।
ममवर्त्मानुवर्त्तन्ते, मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ भगवद्गीता

'जो जिस भाव से मेरी ओर आता है, मैं उसे उसी भाव से ग्रहण करता हूँ। हे अर्जुन! लोग विभिन्न मार्गों से बहुत परिश्रम करके मेरी ही ओर आते हैं।' साम्प्रदायिक धर्म संकीर्णता और इसके फलस्वरूप धर्म विषयक उन्मत्तता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत काल तक राज्य भोग चुकी है। इनके घोर अत्याचार से पृथ्वी भर गई। इन्होंने बहुत बार नर-रक्त से धरणी को सींचा, सभ्यता नष्ट की और समस्त जातियों को हताश किया। यदि ये भयंकर पिशाच न होते तो मनुष्य समाज की अवस्था आजकल की दशा से कहीं उन्नत होती। पर इनका अन्तिम समय अब आगया है और मुझे यह दृढ विश्वास है कि जो घण्टे इस सभा के सत्कार में बजाये गये हैं, वे ही घण्टे धर्मोन्माद, खग प्रहार व लेखनी की कठोरता और समान लक्ष्य पर जाने वालों के पारस्परिक द्वेष की मृत्यु के घण्टे सिद्ध होंगे।'

पाँचवे दिन की बैठक में कूप-मण्डूक की प्रसिद्ध मनोरञ्जक कथा सुनाकर स्वामीजी ने कहा—

'भ्रातृगण ! ऐसी सकीर्णता ही हम लोगो की विभिन्नता का कारण है। मैं हिन्दू हूँ, मैं अपने छोटे कुवें में बैठा हुआ यही समझता हूँ कि मेरा ही कुँआ समस्त जगत है, ईसाई लोग अपने क्षुद्र कुवे में बैठे यही समझते हैं कि सारा ससार उनके ही कुवें में है। मुसलमान लोग अपने ही तुच्छ कुवें को सकल ब्रह्माण्ड मान रहे हैं। मैं आप सब-अमेरिका वालों को धन्यवाद देता हूँ कि आपने सम्प्रदाय रूपी बाँध के तोडने का यत्न किया है और आशा है कि भविष्य में परमात्मा आप लोगो के इस उद्योग में सहायता देकर आपका मनोर्थ पूरा करेगा।"

छटे दिन की बैठक में स्वामीजी का 'हिन्दू-धर्म' विषय पर बहुत विस्तृत और सारगर्भित भाषण हुआ। उन्होने कहा—

'आधुनिक विज्ञान की नवीन से-नवीन खोज जिस वेदान्त धर्म के महान् उच्च भावो की प्रतिध्वनि-मात्र है। उस सर्वश्रेष्ठ वेदान्त ज्ञान से लेकर सामान्य मूर्ति पूजा, एव इससे सम्बन्ध रखनेवाली नाना प्रकार की पौराणिक कहानियों तक का, यहाँ तक कि बौद्धों के अज्ञेयवाद और जैनियो के अनीश्वरवाद का भी, हिन्दू धर्म में स्थान है।'

'यहाँ एक प्रश्न होता है। जैसे आँधी से कोई छोटी

नाव कभी तो लहरों के ऊपर चढ़कर आती है और फिर मध्यस्थ गहराई में जा पड़ती है, क्या वैसे ही यह आत्मा सत एवं असत् कर्म के नितान्त अधीन होकर कभी ऊपर और कभी नीचे को डगमगा रही है ? क्या यह दुर्बल, सहाय हीन आत्मा नित्य प्रवाहित प्रचण्ड, भीषण एवं गर्जनशील कार्य कारण रूपी प्रवाह से सर्वदा ताड़ित हो रही है ? क्या यह आत्मा छोटे से कीड़े की नाँई उस भ्रमण शील कारण चक्र पर स्थापित है, जो सम्मुखस्थ सब पदार्थों को कुचलता जाता है। और न तो अनाथ विधवा के आँसू और न अनाथ बालक के विलाप से ही ठहरता है ? यह विचार करते ही हृदय आशाशून्य हो जाता है, परन्तु यही प्रकृति का नियम है। तब क्या इसका कोई उपाय नहीं है ? रक्षा पाने का कोई पथ नहीं है ? यही करुण विलाप मनुष्य के आशाशून्य हृदय के निम्नस्तल से उठा। दीन-दयालु विश्वपति के सिंहासन तक यह विलाप पहुँचा। तब वह आशा एवं सान्त्वना के सन्देश रूप से एक वेदवित् ऋषि के हृदय में प्रकट हुए और तत्क्षणात् दैवी शक्ति से अनुप्रमाणित हो, उस महर्षि ने खड़े होकर गम्भीर घोषणा की—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्यपुत्रा।
आये धामानि दिव्यानि तस्थु॥

श्वेताश्वेतरोपनिषद्।



सुनो ! तुम सब अमृत के सन्तान हो 'अमृत के सन्तान' अहो ! यह कैसा मधुर एवं उल्लासवर्धक सम्बोधन है ! इसी मधुर नाम से मैं आप लोगों से सम्भाषण करना चाहता हूँ। आप अमृत के अधिकारी हैं। आप लोगों को पापी कहना हिन्दुओं को अस्वीकार है। आप ईश्वर की सन्तान हैं। अमृत के अधिकारी हैं और पवित्र तथा पूर्ण हैं। क्या आप अपने आपको पापी कहते हैं? ऐसा होना असम्भव है। मनुष्य को पापात्मा कहना ही पाप है। इस विशुद्ध मानव आत्मा में केवल कलंक लगाना है। बन्धुओ ! सिंह स्वरूप होकर आप अपने को भेड़ क्यों समझते हो?'

इस भाषण को समाप्त करते हुए उन्होंने कहा—

'मैं उस परमात्मा से, जिसे हिन्दू 'ब्रह्म' कहते हैं, पारसी 'अहर्मज्द' कहते हैं, बौद्ध 'बुद्ध' करके मानते हैं, यहूदी 'यहोवा' कहकर पुकारते हैं और ईसाई 'स्वर्गवासी पिता' कहते हैं— प्रार्थना करता हूँ कि वह आप लोगों का इस महान् उद्देश्य के पूरा करने की शक्ति दे। पूर्व दिशा में तारा (बुद्ध और बौद्ध धर्म) उदय हुआ और धीरे धीरे पश्चिम दिशा की ओर कभी टिम-टिमाते हुए, कभी प्रकाश के साथ आया और इसी प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी के चारों ओर घूमकर, फिर पूर्व दिशा में टसिफु (Tasifu) नदी के किनारे सहस्र गुणित प्रकाश से उदय हुआ। हे स्वाधीनता की मातृ-भूमि

कोलम्बिया ! (Columbia !) तू धन्य है। यह तेरे ही भाग में था, कि तू ने अपने पड़ोसियों के रक्त से अपने हाथ नहीं रँगे। तू ने अपने प्रतिवेशियों का धनलूटकर अपने को धनी बनाना उत्तम न समझा। और यह तेरे ही भाग्य में है कि तू प्रीति और अवरोध का मण्डा लेकर सभ्य जातियों में अग्रसर हो।'

दसवें दिन की बैठक में उन्होंने कहा—'ईसाईयों को चाहिये कि सत् समालोचना के लिये तैयार रहें। मुझे विश्वास, है यदि मैं आपके कुछ दोषों की विवेचना करूँ तो आप बुरा न मानेंगे। हे ईसाई सुहृद्गण ! मूर्ति पूजकों की आत्मा के उद्धार के लिये उनके पास धर्म प्रचारक भेजने के तो आप बड़े अनुरागी हैं, परन्तु जब वे अन्न विना मर जाते हैं, तब उनके शरीर के उद्धार के लिये कोई उपाय आप क्यों नहीं करते ? हिन्दुस्तान में दुर्भिक्ष के समय सहस्रों नर-नारी क्षुधा से पीड़ित होकर मर जाते हैं। किन्तु आप इस बात पर तनिक ध्यान नहीं देते। समस्त हिन्दुस्तान में धर्म—मन्दिर बनाने में आप बड़े उद्योगी हैं। परन्तु हिन्दुस्तान में धर्म का अभाव नहीं है। उनकी हाय-हाय केवल रोटी के लिये है। हिन्दुस्तान के लाखों लोग शुष्क कण्ठ से अन्न अन्न चिल्ला रहे हैं। वे माँगते हैं अन्न और आप उन्हें देते हैं पत्थर ! क्षुधा-तुरों को धर्म का उपदेश देना, उनका उपहास करना है।

भारतवर्ष में कोई धर्मोपदेशक यदि वेतन प्राप्ति के लिये धर्म का उपदेश करे तो वह निन्दित हो जाये और लोग उस पर थूकने लगें। मैं यहाँ अकाल-पीडित दरिद्रों के लिये भिक्षा माँगने नहीं आया, परन्तु मुझे अच्छी तरह ज्ञात हो गया है कि ईसाई राज्य में मूर्ति पूजकों के लिये सहायता पाना कितना कठिन है। २७ तारीख को अपने विदाई के भाषण में उन्होंने कहा—

'जगत में सब धर्मों के सम्मिलन की सम्भव परता आज पूर्ण रूप से सिद्ध हुई। जिन्होंने इसे सचालित किया और इसकी पूर्णता के लिये विशेष श्रम किया, परम दयालु परमात्मा ने उनकी सहायता की और उनके निस्वार्थ परिश्रम का शुभ फल प्रदान किया।

उन सज्जनों को मेरा धन्यवाद है, जिनके उदार हृदय और सत्यानुराग ने सर्व-प्रथम ऐसी अद्भुत कल्पना को जन्म दिया तथा उसे कार्य में परिणत किया। मैं उस सर्व लोक सम्मत उदार भाव-समूह का धन्यवाद कर रहा हूँ, जिसके द्वारा यह सभा-मंच वर्ष के समान प्लावित हुआ है। मैं ज्ञानालोक से आलोकित, उन श्रोताओं को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मुझ पर समान कृपा की है। और जिन्होंने उन युक्तियों को आदरपूर्वक स्वीकार किया है, जिनसे मत मतान्तर के झगड़े मिट सकते हैं। इस सुस्वहस (धर्म मतों की) स्वर-श्रेणी में कभी कभी

विशृङ्खल भाव भी पाया गया है। मेरा विशेष धन्यवाद उनको भी पहुँचे, जो झगड़े उठाते हैं। क्योंकि उनके कुछ विशृङ्खल भाव ने शेष सुशृङ्खल भाव को मधुरतर बना दिया है।

मत मतान्तरों की एकता के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। इस समय मैं अपने सिद्धान्त पर जोर नहीं देता। परन्तु यदि कोई महाशय यह आशा रक्खे कि अन्य मतों को विध्वंस करके एकमत विजयी हो जाये तो एकता हो सकती है—तो मैं उनको यह उत्तर देता हूँ कि—'भाई तुम्हारी यह आशा असम्भव है' क्या मैं चाहता हूँ कि ईसाई लोग हिन्दू हो जाएँ ? कदापि नहीं। ईश्वर ऐसा न करे। क्या मेरी यह इच्छा है कि हिन्दू या बौद्ध लोग ईसाई हो जाएँ ? ईश्वर इस इच्छा से बचाये। बीज भूमि में बो दिया गया और मिट्टी, पानी और वायु उसके चारों तरफ है ही, तो क्या वह बीज मिट्टी हो जाता है ? या वायु अथवा जल हो जाता है ? नहीं, वह वृक्ष ही होता है। वह अपने नियम से ही बढ़ता है और वायु जल व मिट्टी से मिलकर वृक्षांश बनता हुआ एक बड़ा वृक्ष हो जाता है। यही अवस्था धर्म मतों की भी है। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं होना चाहिये न हिन्दू या बौद्ध को ईसाई होना चाहिये। पर प्रत्येक मत को चाहिये कि और मतों को आत्मसात् करके पुष्टि प्राप्त करे।

और एकत्व (ममता) की रक्षा करता हुआ अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार वृद्धि पाये।

इस धर्म महा-मण्डल ने जगत के लिये जो घोषणा की है, वह यही है। उसने यह सिद्ध कर दिखलाया है कि, शुद्धता, पवित्रता और दयापरता किसी विशेष धर्म मण्डली (Church) की बपौती नहीं है। प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय में अत्युत्तम और प्रशंसनीय पुरुष और स्त्रियाँ हुई हैं।

अब इन प्रमाणों के आगे भी यदि कोई अपनी ही रक्षा और दूसरे के विनाश की कल्पना करे तो उसके विषय मे, हृदय से खेद प्रकाशित करता हूँ और उसे बतलाये देता हूँ कि शीघ्र ही प्रत्येक मत की पताका पर, उनकी, अनिच्छा होने पर भी यह लिखा जायेगा—"परस्पर सहायक हो, विरोध न करो। रक्षक हो, विनाशकारी न हो। एकता और शान्ति हो, विभेद व कलह दूर हो।"

स्वामीजी के भाषणों की अमेरिका में धूम मच गई। प्रत्येक श्रेणी के लोगो ने मुक्तकण्ठ से उनकी विद्वता को सराहा। सभी प्रमुख समाचार-पत्रों ने उनके भाषणों को विस्तार पूर्वक उत्तम-रीति से प्रकाशित किया। उन पर अग्रलेख तथा प्रशंसा सूचक नोट लिखे। हिन्दुस्तान और हिन्दू धर्म की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो गई। स्वामीजी के महान् व्यक्तित्व और विद्वता पर मुग्ध होकर प्रमुख विद्वानों ने अपने-अपने अभिमत पृथक प्रकाशित किये। स्वामीजी-

को इस सफलता का समाचार हिन्दुस्तान में पहुँचा तो जनता के हर्ष का पारावार न रहा। स्थान-स्थान पर उत्सव मनाये गये और स्वामीजी को बधाई के पत्र भेजे गये।

उधर अमेरिका में स्वामीजी की इतनी प्रसिद्धि हुई कि स्थान-स्थान से उन्हें भाषण देने के लिये निमन्त्रित किया गया। स्वामीजी स्थिति अनुकूल पाकर सभी निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार करते थे और धर्म मेघ के समान सर्वत्र उपदेशामृत की वर्षा करते थे। सैंकड़ो स्त्री पुरुष स्वामीजी के शिष्य हो गये। आज भी अमेरिका में स्वामीजी के अनुयायी सैंकड़ों की संख्या में विद्यमान हैं।

अमेरिका से स्वामीजी अपने भारतीय मित्रों, शिष्यों तथा महाराजा मैसूर के पास बराबर पत्र भेजते रहते थे। उनके पत्र केवल पत्र ही न होते थे, अपितु उनमें अनेक उपदेश, शिक्षा और अन्यान्य ज्ञानवर्धक सामग्री भी कूट कूट कर भरी रहती थी।

अमेरिका में प्रचार कार्य करते हुए ही इग्लैण्ड जाकर धर्म प्रचार करने की भी स्वामीजी की इच्छा हुई। मित्रों ने भी उत्साहित किया और सब समुचित व्यवस्था कराने का विश्वास दिलाया। प्रायः दो वर्ष तक अमेरिका में प्रचार करके स्वामीजी इग्लैण्ड के लिए रवाना हुए।

समाचार पत्रों द्वारा स्वामीजी की प्रसिद्धि तो पहिले ही इग्लैण्ड पहुँच चुकी थी। स्वामीजी के आने का समाचार

बिजली की तरह फैल गया। स्थान स्थान से वही भाषण के निमन्त्रण आने लगे। 'प्रिंसेसहाल पिकेडली' में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था। उसमें 'आत्मज्ञान' विषय पर स्वामीजी का व्याख्यान हुआ। जनता पर इसका बड़ा उत्तम प्रभाव पड़ा। प्रसिद्ध पत्र स्टैंडर्ड ने उसके विषय में लिखा था—

'राजा राम मोहनराय और केशवचन्द्रसेन के बाद स्वामी विवेकानन्दजी सर्वप्रथम हिन्दुस्तानी हैं, जिन्होंने प्रिंसेसहाल में अपने भाषण-द्वारा जनता को इतना प्रभावित किया। उनका भाषण बड़ा गम्भीर और मार्मिक था।'

इसी प्रकार अन्यान्य पत्रों और विद्वानों ने भी बहुत सराहना की।

लन्दन में स्वामीजी को आशातीत सफलता मिली। झुण्ड-के झुण्ड स्त्री पुरुष स्वामीजी के भाषण की सूचना पाते ही उमड़ पड़ते थे।

थोड़े समय में ही लोगों की स्वामीजी पर गाढ़ी श्रद्धा-भक्ति हो गई। जब स्वामीजी ने वहाँ से चलने की इच्छा प्रकट की तो लोगों ने और भी देर तक वहीं रहने का अनुरोध किया। उधर अमेरिका वालों को स्वामीजी का वियोग सता रहा था और वहाँ से पत्रों का ताँता लगा था कि 'शीघ्र अमेरिका चले आइये'।

विचार विमर्श के पश्चात स्वामीजी ने अमेरिका लौटने का निश्चय किया । लन्दन स्थित मित्रो को पुन लौटने का विश्वास दिलाकर वे अमेरिका चले गये ।

अमेरिका पहुँचकर वे पुनरपि धर्म प्रचार मे जुट गये । पहिले कुछ समय तक 'बोस्टन' रहे । फिर न्युयार्क चले आये । यहाँ प्रति रविवार को 'हार्डमन हाल' मे भाषण देने लगे । सहस्रों स्त्री-पुरुष इन भाषणो मे उपस्थित रहते थे। कुछ काल न्यूयार्क में बिताकर वे डीट्रायट-नामक स्थान पर जाकर रहे, यहाँ उन्होने धर्म प्रचार के कुछ वर्ग चलाने आरम्भ किये ।

उनका व्यक्तित्व विशेष आकर्षक और भाषण शैली अत्यन्त प्रभावपूर्ण थी । लोग पादरियों के बजाय स्वामीजी के उपदेशो को सुनना ही अधिक पसन्द करते थे। भीड इतनी होती थी कि बहुत से लोगों को तो स्थान के अभाव मे निराश होकर लौटना पडता था ।

२५ मार्च सन् १८९५ को हरवर्ड विश्व विद्यालय में स्वामीजी का भाषण हुआ । विद्यालय के विद्यार्थियों और उपाध्यायो के अतिरिक्त बाहर से भी बहुत से सज्जन पधारे थे । इस भाषण का भी बहुत उत्तम प्रभाव हुआ ।

सन् १८९६ के आरम्भ में ही लन्दन के मित्रो के प्रेम पूर्ण बुलावे आने लगे थे । स्वामीजी स्वय भी एक बार फिर लन्दन जाना चाहते थे, परन्तु यह भी चाहते

अमेरिका छोडने से पूर्व कार्य की नींव सुदृढ कर जावें। अन्त में कृष्णानन्दजी, अभयानन्दजी और योगानन्दजी अपने तीन शिष्यो को कार्यभार सौंपकर, स्वामीजी दोबारा लन्दन के लिये रवाना हुए।

इंग्लैण्ड पहुँचते ही मित्रो ने उनका धूमधाम से स्वागत किया। इस बार स्वामीजी मि० स्टर्डी के मेहमान होकर सेण्टजार्ज रोड पर ठहरे थे।

मई सन् १८६६ में स्वामीजी ने धर्मशिक्षार्थ कुछ वर्ग चलाने आरम्भ किये। नित्य ही सैंकडो सज्जन उपदेश सुनने आते थे। वर्गों को पढाने के पश्चात् स्वामीजी विभिन्न कॉलेज-आदि संस्थाओं मे भाषण देने जाते थे। एक बार मिसेज ऐनीबेसेण्ट ने भी उन्हें अपने यहाँ 'भक्ति' पर भाषण देने के लिये निमन्त्रित किया था।

२८ मई को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध प्रोफेसर मेक्समूलर ने उन्हें अपने निवास्थान पर व्याख्यान देने के लिए बुलाया था। प्रोफेसर महोदय ने व्याख्यान के उपरान्त बहुत सन्तोष प्रकट किया था।

स्वामीजी के उन दिनों के कठिन परिश्रम के बारे मे 'कन्ट्रीहाऊस'-नामक पत्र ने लिखा था कि 'लन्दन में अनेकों दार्शनिक और विद्वान् मौजूद हैं, परन्तु स्वामीजी के समान इस समय कोई नहीं है। वे प्रति दिन कई विद्यार्थियों को पढाते हैं। आने वालो की शंकाओं का समाधान करते हैं।

फिर विभिन्न संस्थाओं में व्याख्यान देने भी जाते हैं।'

इसी बीच में कुछ मित्रों ने स्वीजरलैण्ड आदि स्थानों के भ्रमण का अनुरोध किया। स्वामीजी ने इसे मान लिया। भ्रमण करके वे फिर लन्दन आ गये।

अब स्वामीजी ने भारत लौटने की ठानी। भक्त लोग छोड़ने को तैयार न होते थे। स्वामीजी ने उन्हें प्रेमपूर्ण शब्दों में समझाया कि उनका इस समय भारत लौटना बहुत आवश्यक है।

१२ सितम्बर सन् १८९६ को 'पिकेडली' में उन्हें मान-पत्र भेंट करने के लिये एक महती सभा की गई। उसके सभापति मि० ई० टी० स्टर्डे ने सभा की ओर से मान पत्र भेंट किया। १६ दिसम्बर सन् १८९६ को वे लन्दन से भारत वर्ष के लिये रवाना हुये।

स्वामीजी के लन्दन से रवाना होने का समाचार शीघ्र ही चारों ओर, फैल गया। अमेरिका और इंग्लैण्ड में, स्वामीजी को जो सफलता मिली, उसके कारण अब सभी शिक्षित समुदाय उनके नाम से परिचित हो चुका था। वापसी में स्वामीजी सीलोन होते हुए आये। ज्यूँही वे कोलम्बो पहुँचे, केन्डी आदि स्थानों से भाषणों के लिये इतने तार आये कि वे अनुरोध को टाल न सके। १६ जनवरी सन् १८९७ को उनके केन्डी पहुँचने पर उनका धूमधाम से स्वागत हुआ। एक विराट सभा में उन्हें मा-

पत्र अर्पित किया गया। दो तीन दिन केन्डी रहकर जफना पधारे, वहाँ भी अपूर्व स्वागत हुआ। एक सुसज्जित गाड़ी में उनका जलूस निकाला गया। बाजारों को खूब सजाया गया था। सार्वजनिक सभा में इतनी भीड़ थी कि दो मील तक नरमुण्ड ही दृष्टिगोचर होते थे। जफना निवासियों की ओर से एक भव्य मानपत्र उन्हें अर्पित किया गया। उसके उत्तर में स्वामीजी ने प्राय चार घण्टे तक भाषण दिया। इसी दिन शाम को उन्होंने हिन्दू-कॉलेज में वेदान्त-विषय पर भाषण दिया। निमन्त्रित तो और भी कई स्थानों पर किया गया था, परन्तु स्वामीजी अधिक समय तक सीलोन न ठहर सके।

जफना से चलकर रामेश्वरम, त्रिचनापल्ली-आदि होते हुए मद्रास पहुँचे। मद्रास में उनके स्वागत की तैयारियाँ कई दिन पहिले से ही हो रही थीं। जिस दिन वे मद्रास पहुँचे वह दिन एक बड़े भारी मेले के रूप में परिणत हो गया। मद्रास में वे नौ दिन रहे। एक दिन भी ऐसा न बीता, जिस दिन उन्हें भाषण न देना पड़ा हो। यहां विभिन्न भाषाओं में उन्हें बीसियों मान पत्र भेंट किये गये।

मद्रास से कलकत्ता आये। यह तो उनकी जन्म भूमि थी। बंगाल अपने इस सपूत के स्वागत के लिये अधीर हो रहा था। महाराजा दरभंगा की अध्यक्षता में एक स्वागत समिति बनाई गई थी। जब उनका जहाज खिदर

पुर पहुँचा तो उनको ले जाने के लिये एक स्पेशलट्रेन तैयार खड़ी थी।

२८ फरवरी १८९७ को शोभा बाजार के राजा सर राधाकान्त देव बहादुर के मकान पर एक विराट सभा हुई। सभापति थे राजा कृष्णदेव बहादुर। यूरोपियन लोग भी पर्याप्त संख्या में उपस्थित थे। चाँदी की तश्तरी में एक मानपत्र उन्हें भेंट किया गया। स्वामीजी ने उसका समुचित उत्तर दिया।

एक दिन एक नवयुवक स्वामीजी के पास आकर बोला—'मैंने विभिन्न मतों के धर्मग्रन्थों को पढा है। बहुत से धर्मोपदेशकों से वार्तालाप किया है। घण्टों बन्द कमरे में आँखें मूँदकर जप और ध्यान भी करता हूँ, पर मुझे शान्ति नहीं मिली।' स्वामीजी ने कहा यदि मेरी बात मानो तो कमरे के किवाड खोल दो। आँखें बन्द करने की भी जरूरत नहीं। उन्हें भली प्रकार खोलकर देखो, तुम्हारे पास कितने अनाथ और असहाय व्यक्ति रहते हैं? उनकी सेवा करो। तुम्हें अवश्य ही शान्ति मिलेगी।

एक दिन एक गोरक्षणी सभा के उपदेशक मिलने आये। उनसे आपका इस प्रकार वार्तालाप हुआ।

'आपकी सभा का उद्देश्य क्या है?'

- 'गौवों को कसाइयों के हाथ से बचाना।'

'सभा की आमदनी का जरिया क्या है?'

'धनिकों-द्वारा दान।'

'मध्य-भारत में अभी अकाल पड़ा है, उसके लिये आपकी सभा क्या कर रही है?'

'हमारी सभा का उद्देश्य गोरक्षा-मात्र है। वे लोग अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं।'

स्वामीजी गम्भीर होकर बोले—

'मुझे ऐसी सभा से कोई सहानुभूति नहीं, जो मनुष्यों की अपेक्षा गौवों की ही रक्षा करना अपना धर्म समझती है। आपके समान तो कोई भी कह सकता है, गौवें अपने कर्मानुसार मारी जाती हैं। उपदेशकजी मौन होकर चले गये।

स्वदेश लौट कर स्वामी जी ने जो सब से बड़ा कार्य किया, वह है 'स्वामी रामकिशन मिशन' की स्थापना। पहली मई सन १८९७ को इस मिशन की स्थापना की गई। उस अवसर पर स्वामीजी ने कहा था—"भारतवर्ष तथा विदेशों में भ्रमण करने पर मुझे इस बात का खासा अनुभव हुआ है कि बिना किसी संघ या संस्था के कोई ठोस कार्य नहीं किया जा सकता। अतएव आज हमें एक ऐसी महान् संस्था की स्थापना की आवश्यकता है, जिसके द्वारा हिन्दू धर्म की सेवा की जा सके। इसी उद्देश्य को सामने रख कर हम इस 'रामकिशन मिशन' की स्थापना कर रहे हैं। इस मिशन का प्रधान उद्देश्य स्वामी रामकिशन

परम हंस के उपदेशों का प्रचार होगा। कार्य को सुचारु रूपेण चलाने के लिये भारत के विभिन्न भागों में मठ या आश्रम स्थापित किये जायेंगे। जिनमें सन्यासी तथा वे गृहस्थ ठहर सकेंगे जो शिष्टाचार प्रचारार्थ भ्रमण करेंगे। राजनीति से इसका कोई सम्बन्ध न होगा। यह केवल धार्मिक संस्था रहेगी। इनके उद्देश्यों से सहानुभूति रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति इस मिशन का सदस्य हो सकेगा।"

स्वामी जी इस मिशन के प्रधान सभापति चुने गये। उसी दिन कार्यक्रम भी निर्धारित किया गया।

कठिन परिश्रम के कारण स्वामीजी का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। इस पर वे विश्राम के लिये प्रथम अल्मोड़ा जाकर रहे और फिर काश्मीर चले गये। स्वास्थ्य में कुछ सुधार होने पर पंजाब, राजपूताना आदि में प्राय दो वर्ष तक घूम कर प्रचार करते रहे। इन दिनों वे निम्न बातों पर अधिक बल देते थे—

(१) संस्कृत भाषा का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

(२) हमें अपने ही निज विद्यालय स्थापित करने चाहियें जिनमें विद्यार्थियों को उच्च आदर्शों की शिक्षा दी जाये और उन्हें सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाया जाये।

(३) कुछ ऐसे प्रचारक तैयार किये जायें जो विदेशों में हिन्दू-धर्म के उच्च सिद्धान्तों का प्रचार करें।

(४) आपस की एकता का बन्धन दृढ़ किया जाए।

विचारों में भेद होते हुए भी व्यक्तिगत द्वेष को स्थान न दिया जाये।

भारत के विभिन्न भागों में भ्रमण और प्रचार करने के उपरान्त, २४ जून सन् १८६६ को स्वामीजी फिर विदेशों में भ्रमण और प्रचारार्थ निकल पड़े। २८ जून को कोलम्बो पहुँचे। वहाँ से दूसरे दिन चलकर ३१ जुलाई को लन्दन पहुँच गये, वहाँ प्राय डेढमास रहकर फिर अमेरिका चले गये। ८ नवम्बर को न्यूयार्क पहुँचे, वहाँ पन्द्रह दिन रहकर २२ नवम्बर को केलीफोर्निया को रवाना हो गये। मार्ग में मित्रों के अनुरोध को मानकर कुछ दिन के लिये शिकागो भी उतरे। एक दिसम्बर को केलीफोर्निया पहुँच गये। सान फ्रान्सिसको से एक सम्वाद-दाता ने लिखा था—"आज से पाँच वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द एक अपरिचित व्यक्ति की तरह यहाँ आये थे। अपनी अद्भुत योग्यता और भाषणों-द्वारा उन्होंने अपूर्व ख्याति पाई है। उनके उपदेशों को लोग खूब ध्यान से सुनते हैं। एक विदेशी भाषा—अँग्रेजी में उनकी प्रकाण्ड योग्यता को देखकर हमें दाँतों में उँगली दबानी पड़ती है। वे उपदेशक, शिक्षक, दार्शनिक और कवि सब कुछ हैं।"

केलीफोर्निया का कार्य स्वामी तुरियानन्द को सौंपकर वे अगस्त सन् १९०० में पेरिस पहुँचे। उन दिनों वहाँ होनेवाली रिलीजस काँग्रेस की ओर से उनका ससमा-

रोह स्वागत किया गया। यहाँ स्वामीजी के दो भाषण हुए। जिनसे जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे कुछ समय तक फ्रान्स में प्रचार-कार्य के उपरान्त २८ अक्तूबर सन् १६०० को कान्सटेन्टीनोपल पहुँचे। यहाँ से एथेन्स आये और वहाँ से मिस्र होते हुए भारत लौट आये। और धर्म प्रचार में लग गये।

एक बार खेतड़ी से बम्बई जा रहे थे, एक गोरा रेलवे-कर्मचारी उनके एक भक्त को अनुचित रूप से रेल का डब्बा खाली करने के लिये कह रहा था। स्वामीजी ने देखा तो भक्त को समझाकर बात को खत्म कराना चाहा। उजड्ड गोरा बीच में ही बोल उठा—'तुम काहे बात करता है।' इस पर स्वामीजी के क्रोध का ठिकाना न रहा। उन्होंने गोरे को आड़े हाथों लिया, इतना डाँटा कि बेचारा खसियाना होकर चला गया।

एक बार मायावती से बेलूर जा रहे थे। सेकेण्ड क्लास मे यात्रा कर रहे थे। एक गोरा कर्नल भी उसी डब्बे में बैठने आया। परन्तु एक भारतीय के साथ यात्रा करने मे उसने अपना अपमान समझा। उसने स्टेशन मास्टर से जाकर कहा कि डब्बा खाली करा दे। स्टेशन मास्टर भी बिना विचारे ही आकर स्वामीजी से डब्बा खाली करने की प्रार्थना करने लगा। स्वामीजी ने बिगड़-कर कहा—'तुम्हें लज्जा नहीं आती, तुमने ऐसा

साहस कैसे किया ?' स्वामीजी की उग्र मूर्ति देखकर स्टेशन मास्टर को कुछ भी कहने का साहस न हुआ।

स्वामीजी संस्कृत, बंगला और अँग्रेजी के उद्भट विद्वान थे। हिन्दू धर्म पर उन्होंने जिस बहुमूल्य साहित्य का निर्माण किया है, वह स्थायी साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है। वे कहा करते थे—'नाम अथवा यश के लिये किसी का उपकार करना उचित नहीं है। परोपकार तो कर्तव्य समझकर ही करना चाहिये। निःस्वार्थ भाव से कार्य करना ही हम हिन्दुओं का प्राचीन आदर्श है। इसी मार्ग पर चलकर सच्चा कल्याण प्राप्त होता है।' वे त्यागी भी बड़े थे। सन्यासी होकर भी जो सांसारिक धन-वैभव का दास ही बना रहा, वह सन्यासी ही कैसा ? कई स्थानों से स्वामीजी को यथेष्ट धन मिला। स्वामीजी ने सब शिक्षा आदि शुभ कार्यों में लगा दिया। वे सच्चे सन्यासी और महान् मानव-धर्म प्रचारक थे। कपड़े रँगने-मात्र से ही कोई संन्यासी नहीं हो जाता।

४ जौलाई सन् १९०२ को रात्रि के ९ बजे बेलूर मठ में उन्होंने अपनी इह लीला संवरण की थी।



रामतीर्थ

साधुओं की हमारे देश में कमी नहीं है। आज भी उनकी संख्या २६ लाख से अधिक है। परन्तु सच्चे साधु तो उनमे खोजने से विरले ही मिलेंगे। शेष तो नामधारी साधु हैं और उनका अस्तित्व भारत वसुन्धरा पर भार-स्वरूप है। अधिकाश तो—

शापट मुई भये सम्पत नासी।
मूण्ड मुण्डाये भये सन्यासी॥
मूण्ड मुण्डाये के तीन गुण,
सिर की मिट जाये खाज।
बाबा को पदवी मिले,
लोग कहें महाराज॥

'राम राम जपना, पराया माल अपना' यही उनका मूल मन्त्र है। देश और जाति हित के कार्यों से उन्हें कुछ री प्रेम नहीं।

मानव धर्म-प्रचारक श्री स्वामी रामतीर्थजी महाराज एक सच्चे और आदर्श साधु थे। देवी सरस्वती की उन पर विशेष कृपा थी। उच्च विचार, पवित्र और पावन चरित्र, निर्मल मन, धर्ममय जीवन, आकर्षक व्यक्तित्व, प्रगाढ प्रभु-प्रेम-आदि उनके सद्गुण वर्णनातीत थे। त्याग अपूर्व था। ब्रह्मानन्द की मस्ती उनके रोम-रोम से फूटी पड़ती थी। वे सर्वत्र 'सबका भला' की पवित्र ध्वनि गुञ्जाते और सब को खैर मनाते हुए घूमे। उन्नसवीं शताब्दी में, जब कि भौतिकवादी अध्यात्मवाद की खिल्ली उड़ाते थे और त्याग तथा वैराग्य, दम्भ और पाखण्ड के पर्याय समझे जाते थे, उन्होंने अपने आत्मिक बल से घोर नास्तिकों को भी चकित कर दिया था। स्वार्थ-रत संसार को अपने अनुभव के आधार पर उन्होंने ही पुकारकर कहा था—

घूमती फिरती थी दुनियाँ, जब तलब करते थे हम।
जब से नफरत हमने की, वह बेकरार आने को है॥

और—

हम खुदा थे गर न होता, दिल में कोई मुद्दआ।
आरज़ुओं ने हमारी, हमको बन्दा कर दिया॥

रामतीर्थजी महाराज का जन्म २२ अक्तूबर सन् १८७३ ई० को पञ्जाब प्रदेशान्तर्गत जिला गुजरांवाला के मुराली नामक ग्राम में, पवित्र सारस्वत वंश की गोस्वामी शाखा में हुआ था। उनके पिताश्री का नाम श्री प०

हीरानन्दजी गोस्वामी था। कहते हैं जिस समय आपका जन्म हुआ तो आपके दादाजी ने जन्म कुण्डली बनाई। कुण्डली को देखकर पहिले तो वे रोये और फिर खिल-खिलाकर हँसने लगे। लोगों ने इसका कारण पूछा तो बोले—"बालक ऐसे लग्न में जन्मा है कि जिससे निकट-भविष्य में ही इसकी या इसकी माता की मृत्यु होगी, यही रोने का कारण है। हँसने का कारण यह है कि बालक जीवित रहा तो प्रसिद्ध सन्त सिद्ध होगा और अपने वंश तथा देश के नाम को उज्ज्वल करेगा।" बालक अभी दो ही मास का था कि वह मातृ स्नेह से सदा के लिये वञ्चित हो गया। तदुपरान्त बालक के पालन-पोषण का भार उसकी धर्म शीला बुआ ने वहन किया। बुआजी तीर्थ-यात्रा को गईं तो बालक भी उनके साथ था। इसी से आगे चलकर बालक का नाम तीर्थराम हो गया।

तीर्थराम ने आरम्भिक शिक्षा ग्राम के मकतब में ही, मौलवी मुहम्मदटीन से ग्रहण की। १५ वर्ष की अवस्था में प्रान्त भर में सर्व-प्रथम रहकर गुजराँवाला हाई स्कूल से मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। गुजराँवाला में वे अपने पिता के मित्र भगत धन्नारामजी के पास रहा करते थे। धन्नारामजी ईश प्रेमी, सरल चित्त वेदान्ती सज्जन थे। बुआजी और अब भगतजी के सम्पर्क में रहने से उन पर बड़ा सुन्दर प्रभाव पड़ा। बाल हृदय पर भक्ति का

पढने लगा और उत्तरोत्तर गाढा ही होता गया।

उनका छात्र-जीवन अत्यन्त सादा और अनुकरणीय था, वे नियम से सोते, जागते, पढते और व्यायाम करते शराब तो क्या चाय, पान, सिगरेट-आदि को भी कभी छूते तक न थे। कभी-कभी पैसा पास न होता तो एक ही समय भोजन करके रह जाते। किसी के सामने हाथ नहीं फैलाते थे।

तीर्थराम को सर्व-प्रथम छात्र-वृत्ति मिली। एफ़० ए० फ़ोरमैन क्रिश्चियन कालिज लाहौर से पास किया। इस बीच में एक विशेष घटना घटित हो चुकी थी। एफ़० ए० तक वे उर्दू फ़ारसी लेकर पढे थे। कुछ सहपाठी ताने देने लगे गोसाईं और ब्राह्मण होकर भी आप हिन्दी संस्कृत नहीं पढते, यह तो बड़े अनर्थ की बात है? तीर्थराम ने भीष्म-प्रतिज्ञा की कि बी० ए० संस्कृत लेकर ही उत्तीर्ण करूँगा। सह-पाठी और प्रोफ़ेसर सभी उसकी प्रतिज्ञा से चकित हो रहे थे। तीर्थराम को संस्कृत के लिये विशेष परिश्रम करना पड़ा। परीक्षा आई और वे अँग्रेज़ी में ४ नम्बरों से फ़ेल हो गये, रह गये। इसका उन्हें बड़ा खेद हुआ। फ़ेल होने से खेद तो होता ही है, पर उनके खेद का एक विशेष कारण यह भी था कि अब छात्र वृत्ति बन्द हो जायेगी। निर्वाह कैसे होगा? पिता ने उनकी अर्धाङ्गिनी को भी लाहौर पहुँचा दिया था। दैव ने उनकी सहायता की।

अकस्मात् उन्हें अपने मौसा डा० रघुनाथदास असिस्टेण्ट सर्जन का पत्र मिला—"बेटा तीर्थराम घबराओ नहीं, धैर्य धारण करो। पढ़ना मत छोड़ो। व्यय के लिये मैं २५) मासिक भेजता रहूँगा। हो सके तो एक या दो ट्यूशन भी कर लेना। आगे पढ़ने के लिये उत्साह और साहस न छोड़ना।" आगामी वर्ष पञ्जाब में सर्व प्रथम रहकर तीर्थराम ने बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। फिर क्या था, ६०) मासिक छात्रवृत्ति मिलने लगी। गवर्नमेण्ट कालिज से उन्होंने पञ्जाब में सर्व प्रथम रहकर गणित में एम० ए० पास किया।

प्रिन्सिपल साहेब उनकी प्रतिभा को देखकर मुग्ध हो गये थे। उन्होंने चाहा कि वे प्राविन्शियल सिविल सर्विस में प्रविष्ट होकर लन्दन चले जावें। परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। लाहौर के गवर्नमेण्ट कालिज में ही वे गणित के प्रोफेसर हो गये। इस समय उनकी अवस्था २१ वर्ष की थी। फोरमेन क्रिश्चियन कालिज में भी कुछ दिन प्रोफेसर रहे। फिर सियालकोट हाई स्कूल के हेड मास्टर होकर चले गये। बाल्य काल से ही उनके हृदय में वैराग्य और आध्यात्मिकता की तरगें उठा करती थीं। अब नौकरी, धर्मपत्नी और दो छोटे छोटे बालक उनके पारमार्थिक जीवन में बाधा रूप हो रहे थे। वे पारवारिक मोह ममता के बन्धन तोड़कर ब्रह्मानन्द में मग्न स्वछन्द विचा-

रना चाहते थे। अपने बचपन के विवाह पर खेद प्रकाश करते हुए वे प्राय. कहा करते थे कि यदि मुझे विवाह के समय, इस समय के समान विचार होता तो मैं कदापि विवाह न करता।

सन् १८९७ मे वे सनातन-धर्म-सभा लाहौर के मन्त्री थे। तब द्वारिकापीठ के स्वामी शकराचार्यजी महाराज लाहौर पधारे, ये वेदान्त की प्रस्थानत्रयी (गीता-उपनिषद् और वेदान्त दर्शन) के माननीय आचार्य समझे जाते थे। मन्त्री होने के नाते आपको स्वामीजी की सेवा और सतसग का पर्याप्त अवसर लाभ हुआ। जाते समय प्रसन्न होकर स्वामीजी उन्हें काश्मीर यात्रा में अपने साथ ले गये। कॉलिज की लम्बी छुटियॉं हो रही थी। कुछ अवकाश और ले लिया और प्राय. ४ मास स्वामीजी के साथ काश्मीर यात्रा में बिताये। वेदान्त की शिक्षा, स्वामी शकराचार्यजी महाराज-सा उपदेशक और प्रकृतिनटी का विस्तृत प्रागण-हिमालय, पाकर भी श्रद्धालु जिज्ञासु तीर्थ राम सासारिक मोह ममता के माया जाल में आबद्ध रहे ? यह असम्भव था। अवकाश समाप्त होने को आया। तीर्थरामजी ने स्वामीजी से विदा मॉंगी। श्रद्धा-भक्ति पूर्वक चरण स्पर्श किया। स्वामीजी ने सिर पर हाथ फेर-कर आशीर्वाद दिया 'पुत्र ! तुम शिव रूप हो, ससार के बन्धन काटने को तुम्हारा जन्म हुआ है, अपने ध्येय को भूल न जाना'।

सन् १८६६ मे दीवाली के दिन उन्होंने अपने पिता को पत्र लिखा—'आपके लडके तीर्थराम का शरीर तो अब बिक गया। राम आगे, उसका अपना नहीं रहा। आज दीवाली में शरीर हार दिया और महाराज (राम) को जीत लिया। आपको बधाई।'

पत्र पढकर पिता की चिन्ता का ठिकाना न था। उत्तर मे पिता ने अपने बुढापे और स्त्री तथा बच्चों की ओर ध्यान दिलाया। पत्नी ने कहा—'आपके चले जाने से तो मैं रो रोकर मर जाऊँगी' सब के लिए तीर्थराम का एक ही उत्तर था—

'क्या जगत्पति राम इस छोटे से परिवार का स्वामी नहीं ? जब वही राम मुझे इसके लिये प्रेरित कर रहा है तब मेरा क्या दोष ? सब को उसी राम में मिलना है और उसी की इच्छा से सुख दु ख या सयोग वियोग सहना है। मेरा तो अब राम है। जिसको मुझसे कुछ पाने की आशा है, वह मेरे राम से ही मॉगे।'

जो कुछ पूॅजी अब तक सचय की थी वह सब, स्त्री, एक पुत्री तथा दो पुत्रों को पिताजी के पास पहुँचा दिया। और स्वय लाहौर से हरिद्वार पहुँचे तथा साधुवेश धारण कर वेदान्त विचार में मग्न होकर हृषिकेश के समीप गगा तट पर आसन जमा दिया।

उनके सन्यास धारण [illegible]र काशी के सुदर्शन

में 'युवा सन्यासी' शीर्षक से एक कविता छपी थी। उसके कुछ अंश यहाँ उद्धृत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता—

गुण निधान मतिमान सुखी, सब भाँति एक लवपुर वासी।
युवा अवस्था बीच विप्र कुल—केतु हुआ है सन्यासी॥
विविध भाँति से उस विरक्त को, सुहृद बन्धु समझाय थके।
गंगाजी के प्रवाह ज्यों, पर, उसे न वे सब रोक सके॥
वृद्ध पिता माता की आशा, बिन ब्याही कन्या का भार।
शिशु हीन सुतों की ममता, पतिव्रता नारी का प्यार॥
चिर सहचरी पियाली छोड़ी, रम्य तटी रावी छोड़ी।
शिखा सूत्र के साथ हाय, उस बोली पंजाबी छोड़ी॥
धन्य पचनद भूमि जहाँ, इस बड़ भागी ने जन्म लिया।
धन्य जनक जननी जिनके, घर इस त्यागी ने जन्म लिया॥
धन्य सती जिसका पति मरने, से पहिले हो जाये अमर।
धन्य धन्य सन्तान पिता, जिनका जगदीश्वर पर निर्भर॥
शोक ग्रस्त हो गई लवपुरी, उसकी हुई विदाई जब।
पृथ्वी भूल कैसे न हो मन, सन्यासी हो भाई जब॥
खिन्न अश्रुमुख वृद्ध लगे, कहने मंगल तव मारग हो।
जीवन मुक्त सहाय ब्रह्म—विद्या में सत्वर पारग हो॥

कुछ लोग कहते हैं 'दुध मुँहे बच्चों, युवा सहधर्मिणी और वृद्ध पिता को छोड़कर "राम बादशाह" का सन्यास ग्रहण उचित न था।' जन-साधारण के लिये यही उपयुक्त

है। परन्तु "राम बादशाह" तो इस नियम का अपवाद था। जन-साधारण का नियम उस पर लागू नहीं होता। उसके लिये शास्त्र का आदेश है—"जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो, उसी दिन वानप्रस्थ गृहस्थ वा ब्रह्मचर्य आश्रम का परित्याग करके सन्यास ग्रहण करे"

(छान्दोग्य उपनिषद्)

एक दिन राम बादशाह के समान ही महात्मा बुद्ध ने भी तो पुत्र कलत्र, पिता-माता और धनैश्वर्य का परित्याग किया था। जगत गुरु आचार्य शंकर भी इसी मार्ग से अनन्त की ओर बढ़ा था और इसीलिये आज हम उन उनके नाम को इतिहास में जगमगाता हुआ पाते हैं। स्वामी रामतीर्थ ने सन्यासी होकर न केवल यही कि अमर-गति और कीर्ति प्राप्त की, अपितु यूरोप और अमेरिका के कट्टर भौतिकवादियों को उच्च भारतीय अध्यात्मवाद के चरणों में नत मस्तक कर दिया। उन्होंने बच्चों के लालन पालन और स्त्री तथा पिता की सेवा से भी बढ़कर कर्तव्य का नि स्वार्थ भाव से पालन किया है। उनका स्वार्थ-त्याग और बलिदान अत्यन्त महान् है।

उन्होंने किसी गुरु से नहीं, स्वय ही 'ज्ञान सन्यास' ग्रहण किया था और स्वय ही अपना नाम तीर्थराम के बजाय रामतीर्थ रखा था। वे अपने को 'राम बादशाह' भी कहा करते थे।

सन्यास ग्रहण के उपरान्त उन्होंने सन् १८६८ की ग्रीष्म ऋतु में अमरनाथ की यात्रा की। लौटकर लाहौर से उर्दू में "अलिफ"-नामक मासिक पत्र निकालने लगे। इसमें स्वामीजी के अध्यात्म विषयक गद्य-पद्यमय लेख रहते थे, जो कि उस समय के शिक्षित समुदाय में विशेष प्रेम से पढ़े जाते थे।

उनके प्रभु प्रेम-रस-भीने उपदेशों को जनता बड़े प्रेम-भाव से श्रवण करती थी। लाहौर में थोड़े दिन रहकर 'पत्र' का कुछ प्रबन्ध करके जोलाई १६०१ में वे उत्तराखण्ड को यात्रा को चल पड़े। जब दिसम्बर सन् १६०१ में लौटे तो मथुरा में एक विराट सर्व-धर्म सम्मेलन होनेवाला था, सभी प्रमुख मतों के प्रतिनिधि आमन्त्रित किये गये थे। स्वामी रामतीर्थजी सर्व-सम्मति से उस सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए। सम्मेलन में कोई वक्ता और श्रोता ऐसा न था, जिस पर स्वामीजी की सौम्य मूर्ति, विश्व-प्रेम और चरित्र बल ने प्रभाव न डाला हो। सम्मेलन की कार्यवाही तीन दिन तक बड़ी शान्ति और प्रेम से होती रही। तीसरे दिन फादर स्टोक साहिब ने हिन्दू-धर्म पर कुछ आक्षेप किये, ऐसा करना सम्मेलन के पूर्व निर्धारित नियमों के प्रतिकूल था। जनता 'शर्म-शर्म' पुकारने लगी। तब स्वामीजी उठे, जनता को शान्त किया, और बाईबिल के वचनों को उधृत करके प्रेमपूर्वक बताया-कि -

पादरी साहिब ने जिस कटाक्ष की शैली का अवलम्बन किया है, वह न केवल हिन्दू-धर्म अपितु ईसाई-धम के भी विरुद्ध है।' इस पर पादरी साहिब ने उठकर श्रोताओं से क्षमा-याचना कर ली और सम्मेलन का काय यथापूर्व प्रेमपूर्वक होता रहा। जब स्वामीजी का भाषण आरम्भ हुआ तो बड़ा मार्मिक दृश्य था। एक ओर उपदेशामृत की धारा प्रवाहित थी और दूसरी ओर श्रोता-गण मन्त्र मुग्ध से बैठे आनन्द विभोर होकर अश्रु धारा बहा रहे थे। स्वामीजी सम्मेलन के पश्चात् भी नगर वासियों के आग्रह को मान-कर मथुरा मे ठहरे और अपने उपदेशों से जनता को कृत्य कृत्य करते रहे।

सम्मेलन के परचात् कुछ दिन तक आगरा, लखनऊ-आदि नगरो मे उपदेशार्थ भ्रमण भी किया। अप्रल १६०२ मे हरिद्वार होते हुए टिहरी पहुँचे। उत्तराखण्ड की यात्रा मे पहिले भी एक बार टिहरी पधार चुके थे। यहाँ हिज हाइनेस महाराजा कीर्ति शाह बहादुर टिहरी नरेश से स्वामीजी को भेट हुई। महाराज थोड़े दिन पूव ही यूरोप से शिक्षा प्राप्त करके लौटे थे। वे उदार मना और आदर्श नृपति थे। प्रथम भेंट में ही स्वामीजी के भक्त हो गये। स्वामीजी जब तक वहाँ रहे, महाराज उनकी सुविधा और सेवा की यथोचित व्यवस्था करते रहे। स्वामीजी के लिये टिहरी से चार मील ऊपर गगा के किनारे एक पर्ण

बनाई गई थी। कभी-कभी स्वयं महाराजा साहिब भी पैदल चलकर स्वामीजी के दर्शन, शंका-निवारण और उपदेश ग्रहण के लिये आया करते थे।

स्वामीजी ने महाराजा साहिब से प्रचारार्थ विदेश यात्रा की इच्छा प्रकट की। महाराज ने इसका सहर्ष अनुमोदन किया और राज्य की ओर से स्वामीजी की यात्रा का समुचित प्रबन्ध कर दिया। सितम्बर १९०२ में स्वामीजी अपने शिष्य नारायण को साथ लेकर कलकत्ता होते हुए टोकियो पहुँचे। जापानियों ने उनका उत्साह से स्वागत किया। जापान में स्वामीजी का सर्वप्रथम भाषण टोकियो यूनिवर्सिटी में हुआ। फिर तो व्याख्यानों का ताँता ही लग गया। स्थान स्थान से भाषण के लिये निमन्त्रण आने लगे। आमन्त्रित करनेवाली संस्थाओं में धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक आदि सभी प्रकार की संस्थायें थीं। उनके यूनिवर्सिटी के भाषण का विषय था 'सफलता के साधन' उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"विषय पर कुछ कहने से पूर्व मैं आपको यह जतला देना चाहता हूँ कि मैं जापान को अपना देश और जापानियों को अपना देशवासी समझता हूँ। इस लिये कि जापानियों के इतिहास का आरम्भ भारत से ही होता है। आप लोगों के पूर्वज भारत से ही यहाँ आये थे। इसीलिये मुझे आप अपना भाई ही समझें, न कि विदेशी यात्री।"

"सफलता का रहस्य दो शब्दो में छिपा है—वे हैं ज्ञान और कर्म। यह याद रखना चाहिये कि अकेला ज्ञान या अकेला कर्म सफलता का कारण नहीं है। इन दोनो की सामञ्जस्यता ही सफलता की कुञ्जी है। एक मजदूर अभ्यास वश रासायनिक क्रिया कर सकता है। इससे वह रसायन शास्त्र का पंडित नहीं हो जाता। इसी प्रकार इञ्जीनियर इंजन के कल पुरजो का ज्ञान रखता हुआ भी फायरमैन का काम नहीं कर सकता। कर्म अपनी सिद्धि में ज्ञान, की अपेक्षा रखता है। ऐसे ही ज्ञान भी कर्म बिना सफल नहीं हो सकता। अब सफलता चाहने वालों को इन दोनों का साथ साथ उपयोग करना होगा। सफलता प्राप्त होने पर फिर चाहे इन दोनों के सहयोग की आवश्यकता न भी रहे। यह हुई सफलता की कुञ्जी। सफलता के साधन सात हैं। यथा—

(१) उद्योग (२) स्वार्थ त्याग (३) उत्साह और साहस (४) प्रेम (५) प्रसन्नता (६) निर्भीकता (७) स्वावलम्बन।

इसके आगे स्वामीजी ने इन सातों की विस्तृत व्याख्या की।

कुछ काल तक जापान में रह कर स्वामीजी ने अमेरिका जाने का निश्चय किया। भक्त जापानियों ने अमेरिका का सैकिंड क्लास का टिकट ले दिया और मार्ग के लिये आवश्यक सामग्री का भी प्रबन्ध कर दिया। स्वामीजी

जिस जहाज में यात्रा कर रहे थे उसी में एक पत्र प्रतिनिधि भी था। स्वामीजी की विचित्र वेश भूषा देखकर वह एक दिन स्वामीजी से वार्तालाप में प्रवृत्त हुआ—

'आप कहाँ जा रहे हैं ?'

'अमेरिका'

'क्या इसी पोशाक मे आप अमेरिका पहुँचेगे।'

'जी हा'

'आपके पास कितनी पूँजी है।'

'ससार में जितनी पूँजी है वह सब 'राम' की ही है।'

'मैं ससारकी बात नहीं करता आपकी पूँजी पूछता हूँ।'

'ससार मुझमे और मैं ससार मे हूँ, इस लिये जो कुछ है, वह सब मेरा ही है।'

'अच्छा, वहा आप कहाँ ठहरेंगे।'

'जहा साढे तीन हाथ स्थान मिल जायेगा।'

'बडे विचित्र मनुष्य हो' प्रतिनिधि झु झला कर बोला 'अमेरिका जैसे सम्पन्न और शिक्षित देश में जा रहे हो और न तो वहाँ ठहरने का प्रबन्ध किया है, न पूँजी पास है, वहाँ तुमको भूखों मरना होगा।

महाराज खिल खिलाकर हँस पडे। बोले—'भाई राम तो इस सारी दुनिया के मालिक हैं। अमेरिका में तो क्या, वह कहीं भी भूखा नहीं मर सकता।'

राम की यह बात सुन कर सवाददाता ने ध्यान से

राम बादशाह को देखा और कहा क्या आप वही स्वामी राम तो नहीं जिनके व्याख्यानों की रिपोर्टें मैं अमेरिकन समाचारपत्रों को भेजता हूँ ? स्वामीजी मुस्कराये। संवाददाता समझ गया। उसने प्रेमपूर्वक स्वामीजी से हाथ मिलाया। अज्ञात धृष्ठता की क्षमा माँगी और महाराज के शुभागमन का तार अमेरिका को खटका दिया। अमेरिका पहुँचने पर बहुत से अमेरिकन स्त्री पुरुष उनके स्वागत को मौजूद थे।

स्वामीजी ने पत्र प्रतिनिधि से पूछा—अब मुझे भूखा तो नहीं मरना होगा ?

स्वामीजी की यह विशेषता थी कि जो काम वे स्वयं न कर सकते थे उसका उपदेश भी दूसरों को न दिया करते थे। जो कुछ कहते हृदय से कहते और करके भी दिखा देते। उनका अद्वैत प्रचार व्यवहारिक न होता था। वे सारे विश्व को ब्रह्ममय मानते थे। 'मैं तू' और 'तेरा मेरा' उनके पास भी फटकने नहीं पाता था। माया मोह ग्रसित सांसारिक जन भी उनके पास आकर थोड़ी देर के लिये अपनी सुध बुध बिसरा देते थे।

अमेरिका में उनके भाषणों की धूम मच गई। जहाँ जाते वहीं अपूर्व स्वागत होता। अमेरिका में उनका सर्व प्रथम भाषण सान-फ्रान्सिस्को की रिलीजस लीग के तत्वावधान में हुआ विषय था 'धार्मिक एकता' यह था।

अत्यन्त गंभीर, रोचक और लम्बा था। धार्मिक झगड़ों का कारण बताते हुए उन्होंने कहा—"यह सब भाषा भेद के कारण है।"

आगे चलकर धर्म स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करते हुए कहा—"व्यक्ति पूजा भी पारस्परिक मेल मिलाप में बाधा रूप हो रही है। अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता को हम किसी के हाथ बेच नहीं सकते। फिर वह चाहे बुद्ध हो, कृष्ण हो, ईसा हो या मुहम्मद हो। इन महात्माओं ने अपने अपने समय और अपने-अपने देश में जो काम किये या जो मार्ग सुझाये और जिन समस्याओं को सुलझाया उनके लिये मानव जाति उनकी कृतज्ञ रहेगी। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनके शिष्यों ने उनके नाम पर जो कुछ किया उसका हम अपने देश काल आदि का पूर्ण विचार किये बिना ही अन्धाधुन्ध अनुसरण करें। इस लिये कि अमुक अमुक व्यवस्था पर अमुक अमुक महात्मा की मोहर लगा दी गई है।"

"सचाई किसी की थाती नहीं है। वह न कृष्ण की सम्पत्ति है न बुद्ध की। न वह ईसा की जागीर है न मुहम्मद की। इस लिये किसी के नाम से सचाई का प्रचार करना उसके महत्व को कम करना है। सचाई से मनुष्य गौरव पाता है न कि मनुष्य से सचाई को पुष्टि मिलती है।"

जो सचाई अपनी सत्यता के लिये किसी मनुष्य विशेष का प्रमाण चाहती है, वह सचाई नहीं है। सचाई एक किसान को भी प्रमाणिक बना सकती है और सचाई के बिना एक धर्माध्यक्ष का भी कोई विश्वास नहीं करता। सचाई मनुष्यमात्र की ऐसी ही सम्पत्ति है, जैसे सूर्य।'

'राम आपको वेदान्त की शिक्षा देता है, परन्तु राम का वेदान्त सैद्धान्तिक नहीं है, व्यवहारिक है। आप इसको चाहे कोई नाम देलें। वेद का धर्म कहें। बुद्धि का धर्म बतावें। ईसा या मुहम्मद से उसका सम्बन्ध जोड़ें। कुछ करें। राम को नाम से कुछ सम्बन्ध नहीं, वह तो काम का पुजारी है। राम उस धर्म का प्रचारक नहीं, जो पुरानी धर्म पुस्तकों में मिलता है। न हीं उस धर्म का, जो नवीन दार्शनिक और विज्ञानिक ग्रन्थों में प्रतिपादित है। वह तो आपको ऐसे धर्म के लिये प्रेरित करता है, जो हवा में सन सन और पानी में कल कल शब्द कर रहा है। जिसकी प्राकृतिक शोभा समुद्र की उत्ताल तरंगों में, पर्वतों के शिखरों पर, रंग बिरंगे फल फूल, पत्तों और खिले हुए चेहरों से प्रकट होती है। और प्रकृति सुन्दरी त्रिविध अलंकारों से सज धजकर जिसका स्वागत कर रही है।'

एक अन्य व्याख्यान 'अमरिकनों से अपील' विषय पर सान्फ्रासिस्को के ग्लोडिन हाल में हुआ था। जिसके कुछ अंशों का भाव-मात्र इस प्रकार है—

'आपके देश में जो प्रति शत शिक्षितो की सख्या है वही भारत मे अशिक्षितो की सख्या है। भला जिस देश में १०० मे से ६५ मनुष्य अशिक्षित हो, वहाँ यदि देश भक्ति और राष्ट्र प्रेम की बेल मँढे न चढे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? भारत को इस समय यदि किसी वस्तु की सब से अधिक आवश्यकता है तो वह शिक्षा है। जब तक भारत के कोने कोने में शिक्षा का प्रचार न पहुँचेगा, तब तक वह अज्ञान, अन्धकार, जिसमें भारतवासी आपस मे ही टकरा रहे हैं, दूर न होगा। शोक है कि इस विषय में भारत-सरकार ने भी, जिसकी बागडोर एक शिक्षाप्रिय जाति के हाथ मे है। अपने कर्तव्य का पालन नही किया। इसके डेढ सौ वर्ष के शासन मे भी भारत मे शिक्षा की यह दशा ? अंग्रेजी राज्य की असफलता को सिद्ध कर रही है।'

अमेरिका ससार में शिक्षा और स्वतन्त्रता के लिये विख्यात है, वह चाहे तो इस विषय मे भारत की बहुत-कुछ सहायता कर सकता है।'

'भारत मे अंग्रेजो द्वारा जो शिक्षा दी जाती है, वह सर्वथा अप्राकृतिक और देश की अवस्था को देखते हुए अत्यन्त मँहगी है। सर्व साधारण तो क्या मध्यम कक्षा के लोग भी उससे लाभ नहीं उठा सकते। प्रथम तो भारत को एक विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा दी जाती है। f

सरल विषय भी उनके लिये महा कठिन हो जाते हैं। दूसरे शिक्षा का उद्देश्य उनकी प्राकृतिक शक्तियो को विकसित करना न होकर अंग्रेज अफसरो के नीचे काम करने वाले कुछ सस्ते क्लर्क और मुंशी पैदा करना मात्र है। किसी देश को स्वावलम्बी और आत्म निर्भर बनाने के लिये जिन कलाओ की आवश्यकता होती है, यथा कला कौशल फिजिकल, सायन्स, मैकनीकल इंजीनियरिंग, कृषि, वाणिज्य-व्यवसाय-आदि इनकी शिक्षा का इतने बड़े देश में कुछ भी आयोजन नहीं किया गया। आरम्भ में सरकार को कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे नव-युवकों की आवश्यकता थी, वह पूरी हो चुकी। अब सैंकड़ो ग्रेजुएट बीस या पच्चीस रुपये में अपनी स्वतन्त्रता बेचते फिरते हैं, परन्तु कोई उनका ग्राहक नहीं। यदि बेकारो की संख्या बढ़ाने वाली शिक्षा-पद्धति आप कहीं देखना चाहें तो भारत में देखलें। युद्ध-विद्या की तो भारत के लिए कुछ आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। क्योंकि जब बाह्य आक्रमणो को रोकने और आन्तरिक रक्षा के लिए वहाँ विदेशी संरक्षक मौजूद हैं, तब फिर भारतवासियों को आत्म रक्षा की आवश्यकता ही क्या है ?'

स्वामीजी लगातार तीन वर्ष तक अमेरिका में भ्रमण करके प्रचार करते रहे। विद्वानो और जनता तथा समाचार पत्रों ने उनके भाषणों की भूरि भूरि प्रशंसा की।

थोड़े दिन पूर्व ही 'मानव-धर्म' के सुयोग्य प्रचारक श्री स्वामी विवेकानन्दजी अमेरिकनों में ज्ञान पिपासा को कुछ बुझाकर और कुछ चेता कर गये थे। राम बादशाह को भूमि तैयार मिली, अत. सफलता भी विशेष हुई।

स्वामीजी प्राय जगलो में जाकर अकेले रहा करते थे। अपने सिर पर लकड़ियाँ ढोकर लाते और भोजन भी स्वय ही बनाया करते थे। वे बड़े सादे ढ ग से रहते थे। इसी से जनता उन पर जी जान दिये देती थी। वे नित्य व्यायाम करते थे। तैरने का उन्हें विशेष शौक था। कभी २ फौजी सिपाहियो के मुकाबले मे तीन चार मील तक दौड भी लगाते और प्राय आगे निकल जाया करते थे। इससे आत्मिक बल के साथ ही उनके शारीरिक बल का भी परिचय मिलता है।

एक बार अमेरिका के प्रेजीडेंट ने मिलकर स्वामीजी से कहा—'किसी बात की जरूरत हो तो मुझसे कहा कीजिये।' स्वामीजी ने कहा—'राम को किसी चीज की कमी नहीं। सन्यासी को चाह कैसी ? राम तो बादशाह है—बादशाहों का बादशाह है।'

प्रेजीडेंट के आश्चर्य का ठिकाना न था।

एक अमेरिकन महिला तो राम के उपदेशों से इतनी प्रभावित हुई कि सीधी भारतवर्ष आई, राम की जन्म-भूमि के दर्शन किये। बाल्य काल का मकतब भी देखा। राम की

धर्म पत्नीजी और बच्चो से भी मिली। वापिस जाकर वह राम के मिशन की प्रधान प्रचारिका बन गई।

अमेरिकन भक्तों के न चाहते हुए भी जब स्वामीजी ने भारत लौटने का निश्चय किया तो अनेक संस्थाओं ने उन्हें पार्टियाँ दी। मानपत्र भेंट किये और पुनरागमन की प्रार्थनायें कीं। स्वामीजी मिस्र होते हुए भारत आये। मिस्र की मस्जिद में उन्होने फारसी भाषा में भाषण दिया, जिसे सुनकर मिश्र के मुसलमान उन पर लट्टू हो गये। सन् १९०५ में स्वामीजी स्वदेश पहुँचे। स्वदेश में सर्वत्र उनका भव्य स्वागत किया गया। स्वामीजी प्राय एक वर्ष पर्यन्त घूम घूमकर प्रचार करते रहे। भारत को नि सहाय और पराश्रित जानकर उनके समदर्शी हृदय में भारत का विशेष अधिकार हो गया था। अत उन्होने यावज्जीवन स्वदेश में रहकर ही उसकी सेवा करने का व्रत ग्रहण किया था।

अधिक यात्रा और कार्य के कारण जब उनका स्वास्थ्य ठीक न रहा तो स्वास्थ्य सुधारने के लिए टिहरी राज्य में गगा तीर पर जाकर रहने लगे। महाराजा साहिब टिहरी स्वामीजी की सेवा सुश्रुसा का पूर्ण ध्यान रखते थे।

वही उन्होने प्रभु मिलन की ठानी। एक पत्र लिखा—"मृत्यु! तुम मेरा शरीर लेना चाहती हो? अच्छा ले ही लो! मैं इसकी परवा नहीं करता। मेरे पास काम करने लिये बहुत शरीर हैं मैं सूर्य-चन्द्र की किरणों में



जाऊँगा। नदी-नाले या पहाड़ के रूप में गीत गाया करूँगा। मैं दूसरा तो नहीं हूँ। संसार मेरा है, मैं संसार का। बनाता भी हूँ बिगड़ता भी। अब मेरे राम को बन्धन पसन्द नहीं।" पत्र मेज के दराज में रख दिया। अपने सब अप्रकाशित लेख निकाले, उनका क्रम निश्चित किया और बाँध दिया। ऊपर लिखा—"इनको इसी क्रम से छापना, जो मैंने निश्चित किया है।"

रसोइया आया बोला—'महाराज, भिक्षा तैयार है।'

बोले—'अच्छी बात! जरा गंगा स्नान कर आयें' स्नानार्थ चले। रसोइया भी अपनी धोती लेकर पीछे-पीछे नहाने चला।

१७ अक्तूबर सन् १९०६ को दीवाली का दिन था, राम बादशाह गंगा में प्रविष्ट हुए। बढ़ते ही गये और शरीर को तरंगों की गोद में ढुलका दिया। शोक! इस प्रकार वह युवा सन्यासी ३३ वर्ष की अवस्था में ही जल-समाधि लेकर स्वर्ग धाम का यात्री बन गया। यह विचित्र संयोग है कि उनका जन्म दीवाली को हुआ था। सन्यासी भी दीवाली को ही बने और दीवाली के दिन ही उनका दीप निर्वाण भी हुआ।



श्रद्धांजलि

यदि मुझसे पूछा जाये कि वर्तमान समय का आदर्श मनुष्य कौन है ?, तो मैं विश्व पूज्य महात्मा गाँधी की ओर संकेत करूंगा। यदि कोई पूछे गाँधी क्या है ? ता इसका सहज उत्तर यही है कि गाँधी क्या नहीं है ?

गाँधी चालीस करोड़ हिन्दुस्तानियों का हृदय सम्राट है। दीन दुखी भारत का शक्तिशाली सेनापति है, हमारे स्वतन्त्रता संग्राम का यजमान भी है, पुरोहित भी। वह राजनीति का योग्यतम खिलाड़ी है, समाज शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित है, अर्थ शास्त्र का विशेषज्ञ है, दृढ़ व्रति समाज सुधारक है, सत्य का पुजारी है, अहिंसा का मूर्त रूप है, सुले-क है, सुवक्ता है, उच्च कोटि का विचारक, उसकी राजनीति छल-छिद्र हीन है, गीता के व्यवहारिक तत्व ज्ञान का साक्षात् द्रष्टा है, बहुश्रुत है, उसने संसार के सभी प्रमुख धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया है, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई मुसाई, छोटे बड़े के भेद भाव से वह ऊपर, बहुत ऊपर उठ चुका है, मनुष्य को मनुष्य के रूप में ही देखने की उसमें पूर्ण क्षमता है।

गाँधी युग धर्म अर्थात् विशुद्ध 'मानव-धर्म' का प्रचारक है। वह युग की वाणी है, जो कि रह-रह कर जगमगल का सन्देश सुना रही है। राग द्वेष और आपा-धापी के दावानल में भस्मसात हो रहे संसार को मैत्री और करुणा का पवित्र उपदेश दे रही है, अधिकार और लोलुपता के वावेले को कर्तव्य और त्यागवाद के रूप में परिणित कर देना चाहती है।

गाँधी जी का जन्म २ अक्तूबर सन् १८६८ ई० को बम्बई प्रान्तान्तगत काठियावाड़ देश के पोरबन्दर नगर में हुआ था। इनका पूरा नाम मोहनदास कर्मचन्द गाँधी है। गाँधीजी के पिता का नाम कर्मचन्द जी गाँधी और दादा का नाम उत्तम चन्दजी गाँधी था। कर्मचन्द जी के चार पुत्रों में से हमारे चरित्र नायक सबसे छोटे हैं। गाँधी एक वैश्य कुल का नाम है। गाँधी जी के पिता और दादा पोरबन्दर के राजाओं के यहां मन्त्री पद पर काम करते थे। किसी कारणवश राज से अनबन हो जाने पर कर्मचन्द जी राजकोट जाकर रहने लगे थे। वे बड़े निडर और साहसी पुरुष थे। गाँधी जी की माता जी पूजा, पाठ, व्रत परायणा, धर्म शीला और सरला महिला थीं।

गाँधी जी दस वर्ष की आयु तक गुजराती पढ़कर हाई स्कूल में प्रविष्ट हुये। १७ वर्ष की आयु में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। गाँधी जी का विवाह बारह वर्ष की आयु में

ही श्रीमती कस्तूरीबाई से होगया था। इसके कुछ काल पश्चात् उनके पिता का भी स्वर्गवास हो गया। स्कूल में पढ़ने समय का वर्णन करते हुए गाँधी जी ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि—'कुसंगत में पड़ने के कारण उनके दिल से धार्मिक भाव लुप्त होगया था, परन्तु माता के डर से पीछे यथोचित सुधार हो गया।'

मैट्रिक के पश्चात् वे भावनगर कॉलिज में पढ़ने लगे। उन्हीं दिनों राजकोट के एक सज्जन विलायत से बैरिस्टरी पास करके लौटे थे। गाँधी जी को भी विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करने की इच्छा हुई, परन्तु उस समय के सनातन धर्म के अनुसार तो कोई भी व्यक्ति समुद्र यात्रा करने मात्र से पतित हो जाता था। अत माता ने विलायत जाने की अनुमति तो दे दी, परन्तु एक जैन साधु का साक्ष्य बनाकर गाँधी जी से प्रतिज्ञा करा ली कि 'मैं परनारी, मांस और शराब से सदा अलिप्त रहूँगा।'

सितम्बर सन् १८८८ ई० में गाँधीजी लन्दन पहुँचे और विक्टोरिया होटल में ठहरे। विलायत के होटलों में मांसाहार, मदिरा-पान, नवयुवती लड़कियों और स्त्रियों के साथ नाच गान और फ्रेंच भाषा का ज्ञान सभ्यता के चिन्ह समझे जाते हैं। गाँधीजी तो माता से प्रतिज्ञाबद्ध होकर गये थे, वे प्राय 'सभ्य सोसाइटी' से खिंचे खिंचे रहते थे।

एक बार कुछ अँग्रेज मित्रों ने गाँधीजी को एक प्रीति-भोज में बुलाया। होटल मे गाँधीजी भी एक कुर्सी पर जा विराजे। माँस और शराब के प्याले लाकर सामने रखे गये। गाँधीजी ने पूछा—'इनमे शराब और मास भी है ?' उत्तर मिला—'हाँ!' मित्र रुष्ट होकर कटु वचन सुनाने लगे। बोले—'असभ्यों के समान मत बोलो। माँस और शराब नहीं पीना है तो यहाँ से चले जाओ।' गाँधीजी चुपके से खिसक आये।

तब से होटल छोडकर एक पृथक मकान में रहने और स्वय भोजन बनाकर खाने लगे। इन दिनों उनका व्यय लगभग ४०) मासिक ही होता था।

तीन-साल पश्चात् सन् १८६१ मे वे बैरिस्टर होकर स्वदेश लौट आये। बम्बई पहुँचने पर उन्हें माता की मृत्यु का हृदय भेदक समाचार मिला। बैरिस्टरी की प्रसन्नता माता की प्रेम-भरी, दुःखद स्मृति के रूप में परिणत होगई।

पोर बन्दर के कुछ व्यापारी प्रिटोरिया दक्षिण अफ्रीका मे व्यापार करते थे, वहाँ उनका कोई मुक़दमा चल रहा था। वे किसी कार्यवश भारत आये और लौटते हुए मुक़दमे की पैरवी के लिये गाँधीजी को अपने साथ दक्षिण अफ्रीका ले गये। इस प्रकार गाँधीजी केवल कुछ मास ही भारत में वकालत करने पाये।

सन् १८६३ ई० मे वे दक्षिण अफ्रीका पहुँच गये थे।

अफ्रीका संसार के पाँच महान् भूखण्ड में से एक है। जब आरम्भ में अँग्रेज अफ्रीका पहुँचे तो उन्हें वहाँ के खेतों और कारखानों में काम करने के लिये मजदूरों की कमी पड़ी। पर्याप्त संख्या में मजदूर अफ्रीका में मिलते न थे। इस पर अँग्रेज भारत सरकार की विशेष स्वीकृति से शत शत भारतीय स्त्री-पुरुषों को सहस्रों की संख्या में कुली बना-बनाकर अफ्रीका ले गये। यह संख्या इतनी बड़ी थी कि अफ्रीका और अन्य देशों में भी भारतीयों का नाम ही कुली पड़ गया। जब गाँधीजी प्रथम बार नेटाल पहुँचे तो वहाँ प्रत्येक भारतीय को कुली कहकर पुकारा जाता था। और अनेक प्रकार से तंग किया जाता था। जाते ही, गाँधीजी को भी गोरों की धाँधली का पर्याप्त अनुभव हो गया।

गाँधीजी ने प्रिटोरिया जाने के लिये रेल के पहिले दर्जे का टिकट खरीदा। गाड़ी में जाकर बैठे ही थे कि एक गोरा भिल्ला पड़ा। बोला—'टुम हिन्दुस्टानी, काला मैन, यहाँ क्या बैठा है? माल गाड़ी में जाओ।'

गाँधीजी ने कहा—'मेरे पास पहिले दर्जे का टिकट है।' इतने में एक गोरा गार्ड भी आ पहुँचा और उसने एक गोरे सिपाही को आदेश देकर गाँधीजी को डब्बे से बाहर निकलवा दिया। सामान प्लेट फार्म पर फिकवा दिया। गाँधीजी रात भर सर्दी में पड़े ठिठुरते रहे।

अगले दिन गाँधीजी कुछ दूर तक घोड़ा-गाड़ी पर गये। जिस स्थान पर वे बैठे थे, वहीं एक अँग्रेज ने बैठना चाहा और उन्हें उठने को कहा। इन्कार करने पर उसने खींचकर गाँधीजी को जोर का थप्पड़ मारा और कहा— 'तुम काला कुली हमारी बराबरी करता है, फिर ऐसा करेगा तो दाँत तोड़ दूँगा।'

एक बार गाँधीजी बोअरों के सभापति के बँगले के सामने से गुजर रहे थे, इतने में एक अंग्रेज सिपाही आया और उसने लातों और मुक्कों से गाँधीजी को मारा और गर्दन पकड़कर दूर धकेल दिया।

पाठक, विचारकर देखें कि जब हमारे बैरिस्टर के साथ यह व्यवहार था तो अन्य भारतीयों की अफ्रीका में क्या दशा होती होगी। प्राय एक वर्ष तक रहकर जब गाँधीजी स्वदेश लौटने लगे, तो वहाँ को भारतीयों ने गाँधीजी से और भी कुछ काल तक वहीं रहकर भारतीयों की सहायता करने का आग्रह किया। इस पर वे वहीं ठहर गये। नैटाल में गाँधीजी को ज्ञात हुआ कि वहाँ की सरकार भारतीयों के अधिकारों का और भी अपहरण करने के लिये एक क़ानून बना रही है, जिससे गोरों का प्रभुत्व और भी बढ़ जाये और भारतीयों का कोई सदस्य भी पार्लिमेण्ट में न जा सके। इससे उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने दो दरख्वास्तों पर दस हजार भारतीयों के हस्ताक्षर करा के

वायसराय के पास तार विलायत भेजा। इसके परिणाम-स्वरूप वह क़ानून वापिस ले लिया गया।

गाँधीजी ने वहीं रहकर वकालत करने का निश्चय किया तो बड़ी कोशिश करने पर उन्हें हाईकोर्ट में वकालत करने की अनुमति प्राप्त हो सकी। वे दो वर्ष तक वहाँ रह कर वकालत करते रहे। इस बीच में उन्होंने 'नैटाल इण्डियन एजूकेशन ऐसोसियेशन', और 'नटाल इण्डियन कौंग्रेस'-नामक संस्थाओं की स्थापना की। गाँधीजी के सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश अफ्रीका में ही हुआ।

उनके बाल बच्चे अभी तक भारत में ही थे। सन् १८९६ में वे स्त्री और बाल बच्चों को लेने के लिये भारत आए और बसन्त होते-होते उन्हें साथ लेकर वापिस दक्षिण अफ्रीका पहुँच गये। अंग्रेजों ने उनके भारत आने पर चैन का साँस लिया था, अब उनके लौट आने का समाचार सुनकर वे बुरे तरह बिगड़ गए। यत्न करने लगे कि किसी प्रकार गाँधीजी को वापिस भारत लौटा दिया जाये। उन्होंने यहाँ तक किया कि निरन्तर एक मास तक, जिस जहाज में गाँधीजी अफ्रीका पहुँचे थे, उसे किनारे पर भी नहीं लगने दिया। अन्त में जहाज के मालिक के यत्न करने पर, १३ मार्च १८९७ को जहाज किनारे लगा। गाँधीजी के कुछ अंग्रेज मित्र भी वहाँ पधारे थे। उन्होंने गाँधीजी की स्त्री और बच्चों को तो रुस्तमजी

व्यापारी के यहाँ पहुँचा दिया और सुरक्षा के विचार से गाँधीजी को अपने साथ ले चले, परन्तु कुछ गोरों ने गाँधीजी को पहिचान लिया। फिर क्या था गोरों की भीड़ गाँधीजी पर टूट पड़ी और लातों और मुक्कों से भरपूर स्वागत किया। बिचारे पिटते-पिटते बेदम हो गये। अचानक, पुलिस कप्तान की मेम उधर से गुजर रही थी। उसने किसी प्रकार बीच बचाव किया और गाँधीजी को उन यम दूतो से छुड़ाकर पुलिस में ले गई। वहाँ से पुलिस कप्तान ने उन्हें सुरक्षित उनके स्थान पर पहुँचा दिया।

इतना अत्याचार सहन करने पर भी गाँधीजी ने अँग्रेजों को कभी भी अपना शत्रु नहीं समझा। अँग्रेजो के प्रति उनका यही भाव आज तक दृढ रहा है। अमित्र वा शत्रु नाम की तो कोई वस्तु उनके लिये है ही नहीं। सन् १८६६ मे बोअरो और अँग्रेजो मे व्यापारिक कारणों से युद्ध छिड गया, जो कि बोअर युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। बोअरों ने अँग्रेजों के खूब दाँत खट्टे किए और बहुत से अँग्रेज मारे गये तथा बहुत से घायल हुए। गाँधीजी ने बहुत से भारतीयो को अँग्रेजों की सहायता के लिए तैयार किया और घायल सैनिकों की मरहम पट्टी का प्रबन्ध करने लगे। अन्त में बोअर हार गये। गाँधीजी का इस युद्ध में खूब नाम हुआ।

युद्ध समाप्त होने पर दिये गये सहयोग के आधार

पर गाँधीजी ने सोचा कि अब गोरे भारतीयों पर अत्याचार न करेंगे। इतना सौजन्य तो वे दिखायेंगे ही। इस लिए वे भारत लौट आए। आने पर कुछ दिन पश्चात् सूचना मिली कि गोरों का भारतीयों पर अत्याचार पहले से भी बहुत अधिक बढ़ गया है। इस पर सन् १६०२ में वे तीसरी बार दक्षिण अफ्रीका को रवाना हो गये और वहाँ पहुँच कर वकालत करने लगे। भारतीयों के कष्ट निवारणार्थ आन्दोलन को सफल बनाने के लिए उन्होंने 'इण्डियन ओपीनियन' नाम का अखबार निकाला एक छोटा सा प्रेस भी खरीद लिया। सन् १६०४ में वहाँ प्लेग फैला। स्वयंसेवक गाँधी ने उन दिनों में अपने भारतीय भाइयों की खूब सेवा की।

उन्होंने नैटाल के समीप ही 'फीनिक्स' नामक स्थान में १५० बीघा जमीन खरीद कर उसमें मकान और बगीचे बनवाये; बहुत से भारतीय और अंग्रेज वहाँ आकर बस गये, फिर तो वह एक रमणीक बस्ती ही बन गई।

१६०६ में दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने एक क़ानून बनाया, जिसके अनुसार प्रत्येक भारतीय को कुली के रूप में अपना नाम रजिस्टर कराना पड़ता था, अगूठे का निशान देना पड़ता था और साथ ही ४५) रु० वार्षिक कर भी, गांधी जी ने एक विराट सभा करके यह निश्चय कराया कि कोई भी भारतीय अपना नाम, रजिस्टर न कराये और

अगूठे का निशान न दे, चाहे उसे इसके के लिए जेल ही क्यो न जाना पडे। यही गाधी जी का सर्व प्रथम सत्याग्रह था, इस कानून का प्रतिवाद करने के लिए गाधी जी एक शिष्ट-मडल लेकर लन्दनभी गये थे। कुछ समय तक तो वह कानून स्थगित रहा, पुन: फिर जारी हो गया। लदन से लौट कर गाधी जी ने फिर सत्याग्रह छेड दिया; इस पर वे पकडे गये और दो मास के लिए जेल मे डाल दिये गये। और भी बहुत से भारतीय पकड़े और जेल में ठूस दिये गये। जेल में बडी सख्ती की जाती थी, पहले ही दिन गाँधी जी और उनके साथियो पर कोडो की मार पडी। उन्हें तेज धूप में, कड़ी जमीन पर कुदाली चलाने का काम दिया गया, गाधी जी के हाथो मे छाले पड गये। कई बार गाँधी जी और उनके साथियों से पाखाना भी उठवाया गया, पत्थर भी तोडने पडे, खान-पान का प्रबन्ध भी अत्यन्त दोष पूर्ण था। फिर भी आन्दोलन चलता ही रहा।

आन्दोलन की बढती हुई तीव्रता को अनुभव करके सरकार दहल उठी, उसने कहा कि यदि तीन मास के अन्दर सब लोग रजिस्टरी करालें तो फिर यह कानून रद्द कर दिया जायगा। गाधी जी इस पर राजी हो गये, परन्तु बहुत मे लोग फिर भी न माने और गाँधी जी के प्रति क्रुद्ध हो उठे। इसी प्रकार के एक क्रुद्ध पेठान ने तो गाँधी जी को इतना पीटा कि बिचारे बहुत दिन तक चारपाई मे

पड़े रहे। आन्दोलन तो ठण्डा पड़ गया और बन्द हो गया। नाम रजिस्टर भी कराये गये। तीन मास बीत गए, परन्तु सरकार ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार क़ानून को न रद्द करना था न किया। इस पर गाँधीजी ने पुन सत्याग्रह संग्राम छेड़ा और फिर उन्होने तथा सहस्रो भारतीयों ने जेल यात्रा की। जेल-मुक्त होने पर फिर एक शिष्ट मण्डल लेकर लन्दन पहुँचे और जोरो से आन्दोलन करने लगे। इसके परिणाम स्वरूप १६१२ मे भारत सरकार ने बीच में पड़कर एक वर्ष के लिए वह कानून स्थगित करा दिया।

सन् १६१३ में पुराने कानून के अतिरिक्त और भी कई घातक क़ानून बनाये गए। उनमे से एक यह था कि भारतीयो के विवाह क़ानून नाजायज़ हैं। गाँधीजी ने फिर रण-भेरी बजाई। हजारों भारतीय नरनारी सत्याग्रह में आ जुटे। श्रीमती कस्तूरीबाई गाँधी के साथ बहुत सी महिलायें भी जेल गई। गाँधीजी और उनके साथी जेलमे डाल दिए गए। नौकर शाही का दमन-चक्र पूर्णवेग से चलने लगा। गाँधीजी के घनिष्ट मित्र मि० पोलक (अँग्रेज) को विलायत भेजा गया। अन्त मे इङ्गलैण्ड की सरकार ने एक कमीशन नियत करके स्थिति की जाँच कराई और १६१४ मे इण्डियन रीलीफ बिल पास किया। जिसके अनुसार सारे काले कानून रद्द कर दिये गए। इस प्रकार गाँधीजी का पहिला सत्याग्रह-समर पूर्ण रूपेण सफल हुआ।

१६१४ में ही गाँधीजी दक्षिण अफ्रिका से योरुप गये और कुछ दिन वहाँ रहकर भारत लौट आए।

२० मई १६१५ को उन्होंने बम्बई प्रान्तान्तगत अहमदाबाद नगर के समीप, साबरमती नदी के तट पर, सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। इस आश्रम के नियम बहुत कड़े थे। १२ वर्ष से बड़ी अवस्था के लड़के, लड़कियाँ और प्रत्येक जाति के स्त्री पुरुष इस आश्रम में प्रविष्ट हो सकते थे। सब के भोजन-छादन की व्यवस्था समान थी। शारीरिक श्रम प्रत्येक आश्रमवासी के लिए अनिवार्य था। प्रत्येक आश्रमवासी को ब्रह्मचर्य, स्वदेशी, शान्ति, त्याग, सेवा, परोपकार, सत्य और अहिंसा-आदि व्रतों और नियमों की व्यवहारिक शिक्षा दी जाती थी। आश्रम का उद्देश्य समझना चाहिये आदर्श, देश सेवक और सत्याग्रही उपस्थित करना।

सन् १६१४ १८ के महा युद्ध में गाँधीजी ने धन और जन से बिना शर्त अँग्रेजों की सहायता करने के लिए भारत वासियों से अपील की। देश ने दिल खोलकर सहायता की और उसके परिणामस्वरूप अँग्रेज विजयी भी हुए, परन्तु भारत को क्या मिला ? 'मान्टेगूचेम्सफोर्ड रिफार्म स्कीम' इसके अनुसार प्रान्तों में कौन्सिलों की व्यवस्था की गई। गाँधीजी इस समय तक महात्माजी के रूप में परिणत हो चुके थे। उन्होंने इस स्कीम को कभी स्वीकार नहीं

किया । युद्ध मे दी गई विपुल सहायता के बदले इस खिलौने के मिलने से उन्हें हार्दिक खेद हुआ और सम्भवत सहायता देने पर पछतावा भी।

सन १९१६ की लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर महात्मा जी को ज्ञात हुआ कि बिहार में नील की कोठियों के गोरे ठेकेदार किसानो पर भीषण अत्याचार कर रहे हैं । सन् १९१७ मे वे बिहार पहुँचे और दौरा करके किसानों की दुर्दशा को अपनी आँखों से देखना चाहा । सरकार ने नोटिस निकाल कर उन्हें रोका, परन्तु आत्मा की पुकार के सामने वे किसकी मानने वाले थे, न रुके । इस पर सरकार ने प्रतिबन्ध हटा लिया । महात्माजी ने चम्पारन-आदि कई जिलों का दौरा करके और ग्रामों मे पहुँचकर किसानों को असह्य कष्टों से पीडित देखा । उनसे जबरदस्ती बेगार ली जाती थी और नील की खेती पर बहुत अधिक लगान लिया जाता था । महात्माजी के आन्दोलन से प्रभावित होकर सरकार ने एक कमीशन नियत किया । महात्माजी भी इसमे शामिल थे । कमीशन की रिपोर्ट को सरकार ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया । इस प्रकार यह प्रथम भारतीय सत्याग्रह भी सफलता के साथ पूर्ण हुआ ।

सन १९१८ में बम्बई प्रान्त के खेड़ा जिले मे फसल मारी गई, परन्तु सरकार ने लगान माफ न किया । इस पर महात्माजी ने सत्याग्रह आरम्भ कर दिया ।

को इसमे भारी विपत्तियों का सामना करना पड़ा, परन्तु उन्होंने हिम्मत न हारी। अन्त में सरकार ने सूचना निकाली कि जो लोग उस वर्ष कर न दे सकें वे आगामी वर्ष मे दे दें। अहमदाबाद के कपडे के कारखानो के मजदूरों ने भी इस बीच में सत्याग्रह करके मिल मालिकों से अपनी मजदूरी में वृद्धि कराली।

सन् १६१६ में सरकार ने भारत के प्रबल विरोध के होते हुए भी 'रौलट एक्ट' पास कर दिया। इससे भारत के थोड़े बहुत प्राप्त अधिकारो का भी अपहरण हो गया। महात्माजी ने घोषणा की कि यदि इस एक्ट को हटाया न गया तो उसके विरुद्ध सत्याग्रह किया जाएगा। महात्माजी वॉयसरॉय से भी मिले। पर कुछ न बना। ६ अप्रैल सन् १६२० को सारे देश में हड़ताल और उपवास मनाया गया। सारे देश मे सत्याग्रह की ज्वाला एक साथ ही भभक उठी। हिन्दू-मुस्लिम आदि सभी वर्गों के व्यक्ति उसमें शामिल थे। सत्याग्रह को दबाने के लिये सरकार का दमन-चक्र भी पूर्ण वेग से घूमने लगा। लाहौर और अमृतसर में निहत्थे जन समूह पर गोलियाँ चलाई गई। ८ अप्रैल को महात्माजी पजाब के लिए रवाना हुए, परन्तु मार्ग मे ही पकड़े गये और बम्बई ले जाकर छोड़ दिये गये।

अमृतसर में शहर के बीच में विशाल जलियाँवाला बाग है। बाग में जाने आने का एक ही मार्ग है और वह

भी बहुत तग। १३ अप्रैल सन् १९१९ को पजाब का प्रसिद्ध बैसाखी का पर्व था। बाग मे 'रोलट एक्ट' के विरोध मे एक विराट सभा हो रही थी, हजारो स्त्री पुरुष और बाल-वृद्ध वहाँ उपस्थित थे। पजाब के लाट जनरल ओडवायर से आन्दोलन के दबाने के लिये आवश्यक आदेश पाकर, जनरल डायर अमृतसर मे फौज लिए पड़ा था। पिछले दो-चार दिन का घटनाओ पर उसे बहुत क्रोध आ रहा था। वह मशीनगनें लेकर सभा स्थल पर जलियाँवाले बाग मे पहुँचा। मार्ग रोककर सभा को विसर्जित होने का आदेश देने के साथ ही उसने आग बरसानी आरम्भ करदी। चार सौ भारत के लाल शहीद हो गए। आस पास के मकानो के लोगो को भी गोलियाँ लगीं और वे मर गए। एक माता खिड़की मे छोटे से बालक को खिला रही थी। गोली सनसनाती हुई आई और बच्चे के फूल से शरीर को छेदती हुई निकल गई। बाग में एक कुँवा है, घबराहट और हिलबल के मारे बहुत से मनुष्य एक के ऊपर एक करके कुँवे में गिर पड़े और परलोक वासी हुए। इस घटना के विषय में 'हेन्टर कमेटी' के सामने गवाही देते हुए जनरल डायर ने कहा था—'जब मेरे पास के सब कारतूस समाप्त हो गये तो मैंने विवश होकर गोली चलाना बन्द किया।'

१७ अक्तूबर १९१९ को महात्माजी पर से पजाब प्रवेश का निषेध हटा दिया गया। वे तुरन्त पजाब पहुँचे।

पण्डित मदनमोहन मालवीय और पण्डित मोतीलाल नेहरू इसके पूर्व ही पजाब पहुँच चुके थे। सब के यत्न से पूरी तरह जलियाँ वाले बाग के तथा पजाब के हत्याकण्ड की जाँच करके एक बृहत्काय रिपोर्ट प्रकाशित की गई।

इन घटनाओं के पश्चात् जब महात्माजी को पूर्ण निश्चय होगया कि ब्रिटिश सरकार भारत के प्रति न्याय करने को उद्यत नहीं, तो उन्होने सन् १६२० मे असहयोग आन्दोलन का शख फूँका। इन्ही दिनों मुसल्मानो का खिलाफत का आन्दोलन भी चल रहा था। खिलाफत और असहयोग दोनो आन्दोलन परस्पर जुड़ गये। महात्माजी दोनो का ही नेतृत्व कर रहे थे। मौलाना शौकतअली और मौलाना मुहम्मदअली दोनों ही महात्माजी के दायें बायें हाथ बने हुये थे। हिन्दू मुस्लिम एकता के जो स्वर्गीय दृश्य उस समय देश मे सर्वत्र देखने को मिले थे आज भी उन्हें फिर-फिर देखने की उत्कट अभिलाषा हृदय मे व्याप रही है। उन दिनों मे स्थान-स्थान पर विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई। सहस्रों वकीलो ने वकालत, सरकारी कर्मचारियो ने नौकरी, सदस्यो ने कौंसिलें, विद्यार्थियो ने स्कूल और कॉलिज छोड़ दिए। कचहरियो मे मुकदमे जाने बन्द हो गये और सत्याग्रहियों से जेलें ठसाठस भर गईं। उन्ही दिनो प्रिंस ऑफ वेल्स भारत यात्रा को आये। एक ओर सरकार उनका शाही स्वागत कर रही थी और

जनता पूर्ण बहिष्कार करने के लिए स्थान-स्थान पर हड़तालें कर रही थी। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण, समस्त देश में 'गाँधी की आँधी' ने प्रचण्ड रूप धारण कर रखा था। स्वतन्त्रता महायज्ञ में देश बढ़ बढ़कर त्याग, तप और बलिदान की अनुपम आहुतियाँ डाल रहा था। चप्पा चप्पा देश-भक्ति के पवित्र भावों में शराबोर नजर आ रहा था।

इस बीच में एक भीषण दुर्घना 'घटी'। १४ फरवरी सन् २२ को जिला गोरखपुर के चौरीचौरा ग्राम में उत्तेजित भीड़ ने रेलवे स्टेशन और पुलिसथाने को जला डाला, और कई पुलिस वालों का अन्त भी कर दिया। जब महात्माजी को इस घटना का पता चला तो उन्हें बहुत खेद हुआ। पूर्णवेग से चल रहे असहयोग आन्दोलन को उन्होंने सहसा बन्द कर दिया और केवल खादी प्रचार का काय करने लगे। आन्दोलन बन्द करने की घटना का उल्लेख करते हुए पण्डित जवाहरलालजी नेहरू ने लिखा है—'जब उन्हें जेल में आन्दोलन स्थगित होने का पता लगा तो उन्हें महात्माजी की बुद्धि पर बहुत क्रोध आया। बहुत दिन पीछे जाकर उन्होंने समझा कि आन्दोलन का बन्द किया जाना, ठीक ही था।'

१० मार्च १९२२ को महात्माजी साबरमती आश्रम में पकड़े गए और छः साल के लिये जेल में डाल दिये गये। वे दो वर्ष पश्चात् बीमारी के कारण छूटे। उन दिनों

फत-आन्दोलन के समय की प्यार प्रेम की बातों का स्थान हिन्दू-मुसल्मानों की आपसी 'सिर फटव्वल' और एक दूसरे के महापुरुषों को 'गाली प्रदान' ने ले लिया था। देश में फिसादों की बया फूट पड़ी थी। महात्माजी को इससे असह्य वेदना हुई। देश में शान्ति की स्थापना और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये ईश्वर से प्रार्थना करने के लिए उन्होंने देहली में मौलाना मुहम्मदअली के मकान पर २१ दिन का उपवास आरम्भ किया। जोकि ११ दिसम्बर १९२४ को आरम्भ हुआ था। उपवास तो पूर्ण हुआ, परन्तु मुझे कहना चाहिये इष्ट सिद्धि अभी तक भी नहीं हुई।

महात्माजी की बहुमूल्य सेवाओं के प्रति अपनी कृतज्ञता और उनके महान् व्यक्तित्व में अपना अगाध विश्वास प्रकट करने के लिये देश ने, उनको १९२४ को बेलगाँव काँग्रेस का सभापति चुना। इस अवसर पर कौंसिल और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा अछूतोद्धार के अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए। इस समय भारतीय गगन-मण्डल में गाँधी रूपी भास्कर पूर्ण रूप से उदित हो चुका था। सन् १९२८ में कलकत्ते में स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल जी नेहरू की अध्यक्षता में महात्माजी ने पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव उपस्थित किया, जोकि भारी बहुमत से पास हो गया।

सन् १९२९ की लाहौर काँग्रेस तो भारतीय इतिहास में

चिरस्मरणीय रहेगी। ३१ दिसम्बर सन १६२६ को अर्द्ध रात्रि के समय जब कि सन् २६३० के लिये सिंहासन छोड़कर भाग रहा था, देश लाहोर में रावी के किनारे एकत्रित होकर भारत के तरुण तपस्वी, पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में पूर्ण स्वातन्त्र्य और सविनय अवज्ञा आन्दोलन के प्रस्ताव स्वीकार कर रहा था और सब उत्सुक नेत्रों से महात्माजी की ओर देख रहे थे।

महात्माजी ने भारत और ब्रिटेन की सरकारों को उचित समय और चेतावनी देते हुए अपनी शर्तें भेजीं, परन्तु कोई ठीक प्रत्युत्तर न मिला। तब उन्होंने 'नमक चोर' बनने की ठानी। १२ मार्च १६३० को वे ७६ चुने हुये 'स्वयं' सेवकों के साथ, जिसमें कुछ स्त्रियाँ भी थीं, साबरमती आश्रम से निकले और "डाँडी" की ओर कूच कर दिया। २०० मील का मार्ग पैदल चलकर वे ५ अप्रैल १६३० को सागर तट पर डाँडी पहुँच गये। ६ अप्रैल को उन्होंने अपने सत्याग्रही वीरों सहित सागर तट पर पड़ा हुआ नमक उठाकर नमक कानून भंग किया।

इसके पश्चात् देश में भी सर्वत्र सार्वजनिक-समारोह-सहित नमक बनाया और 'लवणासुर' का वध किया गया। बड़े बड़े नेता पकड़े गये, राष्ट्रपति पण्डित जवाहरलाल नेहरू की गिरफ्तारी से तो देश में भारी उत्तेजना फैल गई। ४ मई ३० को महात्माजी भी पकड़े और 'यरवदा

पहुँचा दिये गये । इस आन्दोलन मे विद्यार्थियों और सुसभ्य शिक्षित नारी-समाज ने खूब बढ़-चढ़कर भाग लिया । शराब, विदेशी वस्त्र आदि की दुकानो पर पिकेटिंग करते हुए उन्होने लाठी प्रहारों और गोलियो का भी सहर्ष स्वागत किया । एव हजारों की सख्या मे जेल यात्रा की। जेलो मे स्थानाभाव हो जाने के कारण सरकार को नये जेलखाने बनाने पड़े । असेम्बली के प्रधान श्री विट्ठल भाई पटेल ने भी अपने पद से त्याग पत्र दे दिया और 'लवणासुर का वध' किया ।

५ मार्च सन् ३१ को श्री तेजबहादुर सप्रू और श्री एम० आर० जेकर के प्रयत्नो के परिणाम स्वरूप महात्माजी और सरकार में अस्थाई सन्धि हो गई, जोकि 'गांधी इर्विन पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार सरकार ने सब सत्याग्रही जेल-मुक्त कर दिये । जुरमाने माफ कर दिये और जायदाद जप्ती के आदेश भी रद्द कर दिये गये।

भारतीय समस्या पर विचार करने के लिये सरकार ने लन्दन में गोलमेज कान्फ्रेन्स की आयोजना की। प्रथम गोलमेज कान्फ्रेन्स में काँग्रेस का कोई प्रतिनिधि समिलित न हुआ । दूसरी गोलमेज कान्फ्रेन्स के लिये कराची काँग्रेस में महात्माजी ही एक मात्र प्रतिनिधि निर्वाचित हुए, और उन्होंने दूसरी गोलमेज कान्फ्रेन्स में पहुँचकर भारत का प्रतिनिधत्व किया, परन्तु खाली हाथ लौटे । आने

के कुछ ही दिन पश्चात् ४ जनवरी सन् ३२ को उन्हें पुन बन्दी बना लिया गया । । फिर, आन्दोलन भी तभी से आरम्भ हो गया और दमन भी ।

जेल में ही महात्माजी को सूचना मिली कि १९३२ को गोल मेज कॉन्फ्रेंस के सिलसिले में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री मि० रेम्जे मैकडानल्ड ने अपना साम्प्रदायिक निर्णय प्रकाशित किया है और उसमें हरिजनों को हिन्दुओं से पृथक् कर दिया गया है। महात्माजी इस 'नाखून से मास' की जुदाई को कैसे सहन कर सकते थे। उन्होंने मि० रेम्जे-मैकडानल्ड को हिन्दुओं और हरिजनो के लिये पृथकता हटाने और सम्मिलित अधिकारों की व्यवस्था करने को लिखा। उक्त महाशय ने महात्माजी की बात मानने से इन्कार कर दिया। इस पर महात्माजी ने २० सितम्बर, ३२ को आमरण अन-शन व्रत आरम्भ कर दिया। अपने महान् सेनापति का प्राण सकट में देखकर देश में भारी हलचल मच गई। विरोधी भी प्रभावित हुए बिना न रहे। पूना में प्रमुख हिन्दू और हरिजन नेताओं ने मिलकर 'पूना-पैक्ट' की रचना की, जिसे मि० रेम्जे मैकडानल्ड को भी स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार सफलता मिलने पर पाँचवें दिन महात्माजी ने व्रत खोल लिया।

फिर जेल मुक्त होने पर महात्माजी ने 'हरिजनोद्धार आन्दोलन' को विशेष रूप से आरम्भ किया। ॰''

सेवक संघ' की स्थापना की और हरिजन कार्य के निमित्त देश की व्यापक यात्रायें कीं। इससे मन्दिर प्रवेश और सामाजिक अवस्थाओं के सुधार में बड़ी सहायता मिली। वर्षों का काम दिनों में हो गया। ८ मई, '३३ को महात्मा जी ने आत्म-शुद्धि के लिये २१ दिन का अनशन व्रत आरम्भ किया और उसे सफलतापूर्वक पूर्ण किया। साबरमती का आश्रम तोड़ दिया और उसका सब सामान 'हरिजन-सेवक संघ' को दे दिया। फिर तो साबरमती का महात्मा सेगाँव का सन्त ही बन गया।

सितम्बर, सन् '३३ में महात्माजी को पुनः पूना में नज़रबन्द किया गया। पुनः आज्ञा-उल्लङ्घन के अपराध में उन्हें एक वर्ष कारागार का दण्ड दिया गया, परन्तु स्वास्थ्य बिगड़ने के कारण वर्ष के पूर्व ही छोड़ दिया गया।

सन् '३४ में महात्माजी ने अनुभव किया कि देश कई वर्ष तक निरन्तर आन्दोलन करता हुआ थक गया है। कुछ लोग नूतन विधान के अनुसार कौंसिल प्रवेश के इच्छुक हैं। इस पर उन्होंने सत्याग्रह करने का अधिकार केवल अपने तक सीमित रखा और सर्वसाधारण के लिये आन्दोलन स्थगित कर दिया।

नव-विधान के अनुसार १९३५ में काँग्रेस ने निर्वाचन में भाग लेकर सात प्रान्तों में बहुमत प्राप्त किया। विचार-विमर्श के पश्चात् सात प्रान्तों में काँग्रेसी सरकारों की

स्थापना हुई। यह एक प्रयोग मात्र था जो कि अनुभव करने और अनुभव कराने के लिये ही किया गया था। जब भारत-सरकार ने कॉंग्रेसी सरकारों को पूछे बिना ही देश को वर्तमान महायुद्ध में शामिल कर दिया, तो उसके प्रतिवाद स्वरूप कॉंग्रेसी मन्त्रियों ने त्याग पत्र दे दिये और कॉंग्रेसी सरकारों के बजाय गवर्नरी-राज्य जारी हुआ।

महात्माजी ने बिना शर्त सरकार की सहायता का प्रस्ताव किया, देश उसके लिये तैयार न हुआ। इस पर स शर्त सहयोग की बात सरकार के सामने रखी गई। सरकार ने किसी प्रकार की शर्त मानने से इन्कार कर दिया। इस पर देश में सर्वत्र निराशा और किंकर्तव्य-विमूढ़ता का भावना व्याप्त हो गई। युद्धकाल में महात्माजी सरकार को परेशान करने के पक्ष में न थे, परन्तु देश तो कुछ-न कुछ करने के लिये उतावला हो रहा था। हो सकता था कि लोग गलत मार्ग का अनुसरण कर बैठते। इस पर महात्माजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का कार्य-क्रम निर्धारित किया। यह एक अद्भुत योजना थी, जो कि संसार ने देखी और अत्यन्त सुनियमित रूप से कार्यान्वित की गई।

सर स्टेफर्डक्रिप्स युद्ध-समिति के प्रस्ताव लेकर भारत आये। देश के विभिन्न नेताओं से मिले। महात्माजी ने भी उनसे भेंट की। क्रिप्स के प्रस्तावों में देश की माँग का कुछ उत्तर न पाकर उन्हें बड़ी निराशा हुई। जब वह

जादूगर अपना खेल समाप्त करके और विफल मनोरथ हो कर लौट गया तो महात्माजी ने कई जोरदार वक्तव्यों द्वारा क्रिप्स-योजना के खोखलेपन को भली प्रकार प्रकट कर दिया।

'कॉंग्रेस के अगस्त प्रस्ताव' के कारण बहुत से कॉंग्रेसी नेता और कार्यकर्ता पकड़े गये। इस अवसर पर महात्माजी भी पकडे गये और 'आगा खाँ' के महल में रखे गये।

सन् १९३४ में और उसके पश्चात् भी, कई अवसर ऐ आये जबकि कहने के लिये महात्माजी ने कॉंग्रेस से अप सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, परन्तु वास्तव में तो वे १९२ उससे भी बहुत वर्ष पूर्व से ही, देश के सर्वमान्य नेता च आ रहे हैं। सेवा के विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने देश की बहुमूल्य सेवाएँ की हैं, वे हमारी आँखों देखी बातें

महात्माजी के छोटे-बड़े अनेक जीवन चरित्र बहुत भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। सभी अपने-अपने कोण को लेकर लिखे गये हैं। लेखकों के लिये महात की उपमा, अन्धों के हाथी से दी जा सकती है। विराट् रूप को देखने के लिये दिव्य-चक्षु किस के पा उनके महान् अनुष्ठानों का पूर्ण रहस्य कौन जानत उनके महिमामय 'मानव-धर्म' का पालन कौन करेगा

प्रभु उन्हें करें।